THE BOOK WAS DRENCHED

UNIVERSAL
LIBRARY
OU_186022
UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H81 36 A Accession No. H 3517

Author सिंह, तेजभुवन

Title आधुनिक हिन्दी कविता की स्वच्छन्द धारा

This book should be returned on or before the date 1961 last marked below.

प्रकाशक
ओम्प्रकाश बेरी
हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय
पो० बॉक्स नं० ७०, ज्ञानवापी
वाराणसी-१

प्रथम संस्करण : ११००
१९५६
द्वितीय संस्करण : २१००
१९६१

मूल्य : पाँच रुपए

मुद्रक
बालकृष्ण शास्त्री
ज्योतिष प्रकाश प्रेस
कालभैरव मार्ग, वाराणसी। फोन नं० ३२१२

श्रद्धा-समर्पण

आधुनिक हिन्दी के शोधी एवं मर्मी

उन्हीं गुरुवर डा० श्रीकृष्ण लाल जी

के कर-कमलों में

जिनकी आशीष-छाया में

मेरी साहित्य चेतना ने

बल पाया है !

त्रिभुवन सिंह

काव्य-कला नियति के नियम से परे है,
जिसकी लपेट में नियति भी पड़ी रहती
है। कविता समाधान की वह वाणी है,
जो कवि की गहन मौन अनुभूति को
मुखर करती है। जीवन की सम्पूर्णता
की अनुभूत अभिव्यक्ति ही कविता है।

परिचय

डा० त्रिभुवन सिंह एम० ए०, पी-एच० डी० की यह आलोचना विषयक पुस्तक दूसरी बार प्रकाशित हो रही है। इसके पूर्व 'हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद', 'दरबारी संस्कृति और हिन्दी मुक्तक' तथा 'महा कवि मतिराम' नाम की उनकी पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। उत्तर प्रदेश की सरकार ने उन पुस्तकों को पुरस्कृत करके सम्मानित भी किया है।

डा० त्रिभुवन सिंह सहृदय कवि भी हैं। उनका साहित्य क्षेत्र में इस प्रकार ससम्मान प्रवेश देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हो रही है। प्रस्तुत पुस्तक में हिंदी कविता की स्वच्छन्द धारा का विवेचन है। छायावादी कविता ने आज के आलोचक का ध्यान इतना अधिक खींच लिया है कि उसके लिए मार्ग प्रशस्त करने वाले आधुनिक स्वच्छन्दतावादी कवियों की उपेक्षा-सी होने लगी है। मुझे प्रसन्नता है कि डा० त्रिभुवन सिंह ने इस ओर ध्यान दिया है।

डा० त्रिभुवन सिंह जी ने इस कृति में 'छायावाद' के सम्बन्ध में फैली अनेक भ्रान्तियों का निराकरण किया है। पुस्तक हिन्दी साहित्य के एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति करेगी ऐसा मेरा विश्वास है। हिन्दी साहित्य में ऐसी पुस्तकों की नितांत आवश्यकता थी। यह कार्य बड़ा शुभ हुआ है।

मेरा हार्दिक आशीर्वाद है कि वे अधिकाधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना करके हिन्दी साहित्य का भाण्डार भरते रहें। तथास्तु।

—हजारी प्रसाद द्विवेदी

आमुख

आधुनिक हिन्दी काव्य की स्वच्छन्द धारा भारतेन्दु के समय से ही बह निकली थी। रीति काल की काव्य धारा जब सूखने लग गई थी, तब भारतेन्दु जी ने उसे फिर जीवन-दान देने का प्रयत्न किया और कवि-वचन-सुधा तथा हरिश्चन्द्र चन्द्रिका के द्वारा प्राचीन काव्य-सुधा का प्रवाह एक बार फिर नए वेग से उमड़ पड़ा। परन्तु उसी धारा से थोड़ा हटकर एक और काव्य-धारा भी अपने क्षीण प्रवाह में चल पड़ी थी जिस पर उस युग के लोगों का विशेष ध्यान नहीं गया परन्तु कालांतर में भारतेन्दु के प्रयत्नवारि से सिंचित कवि-वचन-सुधा का प्रवाह तो क्षीणतर होता हुआ प्रायः सूख ही चला, परन्तु दूसरी क्षीण प्रवाह काव्य-धारा धीरे-धीरे शक्ति संचित करती हुई एक विशाल और समृद्ध धारा के रूप में उमड़ चली, उसी काव्य-धारा का अध्ययन आधुनिक हिन्दी काव्य की स्वच्छन्द धारा में प्रस्तुत किया गया है।

छायावाद युग में इस काव्य-धारा ने जो रूप ग्रहण किया उसे देख कर प्रायः सभी सुधी विद्वान् चकित-से रह गए। कल्पना और कला के विलास का वह समृद्ध युग अचानक धूमकेतु की भाँति हिन्दी काव्य-धारा को प्रकाशित कर उठा। कुछ लोग उस प्रकाश को देखकर मुग्ध हो उठे, कुछ भाव-विभोर हो उसे एक टक देखते ही रह गए परंतु अधिकांश लोग किसी अज्ञात आशंका से आशंकित हो उठे। फिर कार्य-कारण सम्बन्ध की गवेषणा होने लगी। छायावाद काव्य का उदय कैसे हुआ—अनेक तर्क-वितर्क चलने लगे। किसी ने कहा द्विवेदी युग की अतिशय इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया स्वरूप छायावाद का जन्म हुआ और किसी ने इसी बात को कुछ अधिक काव्यात्मक ढंग से एक वाक्य में ढाल दिया कि छायावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह है। कुछ लोगों ने काकतालीय न्याय से छायावाद के जन्म का कारण प्रथम महायुद्ध (१९१४–१८) से उत्पन्न अवसाद और निराशा को माना और कुछ ने असहयोग आंदोलन की असफलता को ही छायावाद का कारण कह डाला। केवल प्रतिक्रिया और विद्रोह, अवसाद और निराशा, असफलता और पराजय से इतनी सरस सुकुमार और समृद्ध काव्य परम्परा का जन्म कैसे हो सकता है, यह समझ में नहीं आती। जहाँ प्रतिक्रिया है, विद्रोह है, वहाँ कटुता भी

अवश्य होगी, परंतु छायावाद में वह कटुता कहाँ है। सच तो यह है कि छायावाद का जन्म नहीं हुआ उसका विकास हुआ है, जैसे बालक बढ़ कर किशोर होता है। हाँ उसका नया नामकरण अवश्य हुआ और इसी कारण सारा भ्रम फैला।

जैसा ऊपर लिखा गया है, छायावाद का जन्म नहीं हुआ, विकास हुआ है। काव्य की जो धारा भारतेन्दु के समय उद्भूत हुई वही आगे चल कर छायावाद के नाम से प्रसिद्ध हुई, परंतु विकास के साथ इस काव्य-धारा में इतना अधिक परिवर्तन हो गया है कि सहसा दोनों को एक मानने में लोगों को कठिनाई होती है और यह ठीक भी है। कभी-कभी परिवर्तन भी अचानक और अप्रत्याशित ढङ्ग से होता है। छायावाद में भी यही हुआ। छायावाद मूल रूप में आधुनिक हिन्दी काव्य की स्वच्छंद धारा का विकास है जिसे उसकी चरमपरिणिति कही जा सकती है।

स्वच्छन्द काव्य-धारा की इस अचानक और अप्रत्याशित विकास में न जाने कितनी शक्तियों का प्रभाव पड़ा है। उन्नीसवीं शताब्दी में एक साथ ही अनेक शक्तियाँ भारतीय धर्म और समाज, भाव और विचार, संस्कार और स्वभाव बदलने का कार्य कर रही थीं। एक ओर ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, देव समाज, आर्य समाज तथा थियोसोफिकल सोसाइटी की हलचलें थीं तो दूसरी ओर इंडियन नेशनल कांग्रेस, सर्वेन्ट्स आव इण्डियासोसाइटी आदि के अधिवेशन हो रहे थे, एक ओर प्रेसऐक्ट, इलवर्ट बिल आदि, का विरोध चल रहा था तो दूसरी ओर स्वायत्त शासन और जन-शिक्षा प्रचार के लिये लोगों में उत्साह उमड़ रहा था, एक ओर संस्कृत के साहित्य और दर्शन का सम्पादन हो रहा था तो दूसरी ओर शेक्सपीयर के नाटकों का अनुवाद प्रकाशित होने लगा था। संगीत, चित्र कला, मूर्ति कला तथा भवन निर्माण कला का पुनरुत्थान प्रारम्भ हो गया था, भारतवर्ष का अतीत गौरव पुरातत्व विभाग के प्रयत्नों से धरती के नीचे से खोद कर निकाला जा रहा था और प्रचीन इतिहास की रूप-रेखा प्रस्तुत हो रही थी। इनके अतिरिक्त स्वामी रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, रामतीर्थ, लोकमान्य तिलक, रानाडे, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर आदि प्रभृति महापुरुषों की साधना और तपस्या के परिणाम-स्वरूप जनता में एक नव-चेतना की लहर फैल रही थी। नव-जागरण के उस उषाकाल को देखकर कवियों के कण्ठ से जो अनायास ही काव्य-निर्झरिणी फूट पड़ी थी वही आधुनिक युग की स्वच्छन्द काव्य-धारा थी जिसमें उल्लास था और था आवेग जिसने प्राचीन मान्यताओं में आमूलचूल परिवर्तन ला दिये। प्रेम और सौन्दर्य, मानव

और प्रकृति, राष्ट्र और जाति— सबके प्रति एक नई चेतना जग उठी; साहित्य में एक नया परिवर्तन आ गया।

काव्य की इस स्वच्छन्द धारा का उद्भव यद्यपि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से ही माना जा सकता है, परन्तु श्रीधर पाठक ही इस स्वच्छन्द काव्य-धारा के अग्रदूत थे। अयोध्या प्रसाद खत्री ने खड़ी बोली का आन्दोलन चाहे जिस उद्देश्य से प्रारम्भ किया हो श्रीधर पाठक ने इस आन्दोलन में जो योग दिया उसमें उनका उद्देश्य हिन्दी काव्य को अधिक व्यापक और उदार बनाने का था। भाषा, भाव, छन्द, व्याकरण सभी दृष्टि से श्रीधर पाठक सच्चे स्वच्छन्दतावादी थे और उन्हीं के योग से इस आन्दोलन ने बल प्राप्त किया था। बाद में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, बदरीनाथ भट्ट, हरिऔध और मैथिलीशरण गुप्त ने काव्य की इस स्वच्छन्द धारा को गति दी। धीरे-धीरे रीति काल की परम्परा का लोप होने लगा और हिन्दी साहित्य की संकीर्णता मिटने लगी।

द्विवेदी युग की काव्य-धारा में रीतिकाल की प्रतिक्रिया स्पष्ट दिखाई पड़ती है। परन्तु छायावाद युग के आते-आते प्रतिक्रिया की भावना समाप्त हो गई और स्वच्छन्द विचार-धारा की उन्मुक्त भावना अपने सहज रूप में अभिव्यक्त हुई। इसीलिये द्विवेदी युग की उपदेशात्मकता और व्यंग, नैतिकता और सुधार का लेश भी छायावाद में नहीं है। इसीलिये हिन्दी की स्वच्छंद काव्य-धारा की चरम परिणिति छायावाद में ही मिलती है, आधुनिक काल का वही स्वर्ण युग था।

डा० त्रिभुवन सिंह ने आधुनिक हिन्दी काव्य की स्वच्छंद धारा का बड़ा ही विशद विवेचन किया है। त्रिभुवन सिंह जी सिद्धहस्त लेखक हैं और उनकी 'हिंदी उपन्यास और यथार्थवाद' तथा अन्य पुस्तकों ने अच्छा नाम कमाया है। आशा है यह पुस्तक भी पाठकों को कुछ नई सामग्री देगी।

दुर्गाकुण्ड, वाराणसी।
गोपाष्टमी, कार्तिक शुक्ल २०१३ वि०

—श्रीकृष्ण लाल

अपनी ओर से

दूसरी बार

प्रस्तुत ग्रन्थ का विवेच्य विषय इतना व्यापक है कि उसे किसी एक निश्चित सीमा के अन्दर बाँध देना उसके प्रति अन्याय करना है। आधुनिक हिन्दी कविता के ऊपर विवेच्य भाव धारा का जितना और जिस प्रकार प्रभाव पड़ता है उसकी मैंने उदारता पूर्वक व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। आज की हिन्दी कविता अनेक दिशा में अनियंत्रित ढङ्ग से प्रभावित हो रही हैं, जिसके बीच से आज के समाज की विषम समस्यायें झाँक रही है। ऐसी स्थिति में समीक्षा का एक सुनिश्चित मानदंड स्थिर करना कठिन है, फिर भी मैंने यथाशक्य प्रयत्न किया है। स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों की विवेचना तो प्रस्तुत पुस्तक में की गई है, साथ ही साथ यह भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है कि कहाँ तक अन्य समकालीन साहित्यिक भावधाराओं से इसका मेल खाता है। यही कारण है कि अन्य साहित्यिक प्रवृत्तियों की भी सैद्धांतिक विवेचना कर देनी पडी है। इसकी मूल प्रेरणा मुझे 'छायावाद' के सम्बन्ध में फैले भ्रम से ही मिली है। यदि प्रस्तुत पुस्तक द्वारा तथाकथित भ्रान्ति का कुछ निवारण हो सका तो मैं अपने को कृत-कृत्य समझूँगा।

प्रभावों को स्पष्ट करने के लिये बीच-बीच में प्रतिनिधि रचनाओं को उद्धृत किया ही गया है, साथ ही साथ इस युग के प्रमुख आठ कवियों की स्वतंत्र व्याख्या भी कर दी गई है।

इस द्वितीय संस्करण के सम्बन्ध में मुझे विशेष कुछ नहीं कहना है। हाँ इतना अवश्य कहूँगा कि मैंने 'क्रम-विकास' के नाम से कुछ और सामग्री जोड़कर पुस्तक को अत्यधिक उपयोगी बना दिया है। स्वच्छन्दतावादी काव्य धारा को लक्ष्य करके लिखी गई आधुनिकतम रचनाओं को मैंने प्रतिनिधि रूप में प्रस्तुत पुस्तक में स्थान देने की चेष्टा की है। आधुनिक काव्य पर लिखी अनेक समीक्षा सम्बन्धी पुस्तकों के अवलोकन से मुझे जो एक बात बहुत खली, उसी की प्रतिक्रिया ने ग्रन्थ के इस द्वितीय संस्करणों को यह रूप

प्रदान कर दिया है। प्रायः विद्वानों की समीक्षात्मक कृतियाँ, प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी वर्मा तक ही सीमित रह जाती हैं और काव्य परम्परा को जीवित रखनेवाले अन्य कवियों को स्थान नहीं मिल पाता, पर मैंने ऐसे कवियों को विशेष रूप से स्थान देने की चेष्टा की है जिनकी ओर आलोचकों की दृष्टि नहीं जा पाई है। प्रमुख कवियों में डा० रामकुमार वर्मा, 'बच्चन' शम्भूनाथ सिंह तथा प्रो० 'क्षेम' को बढ़ाकर मैंने पुस्तक को आधुनिकतम बनाने की चेष्टा की है। मेरा विचार था कि प्रगतिवाद प्रयोगवाद, और नयी कविता पर भी विस्तार से लिखूँ पर पुस्तक की मर्यादा में ये विषय नहीं समा पाये। सूचनार्थ परिशिष्टांश में जिक्र भर मैंने कर दिया है जिससे विकास की सभी दिशाओं का परिचय मिल जाय। इस अंश पर स्वतन्त्र रूप से मैंने विचार नहीं किया है जिससे पाठकों को उसे उसी रूप में ग्रहण भी करना चाहिये।

हिन्दी जगत् के सहृदय पाठकों का मैं हृदय से आभारी हूं जिन्होंने पुस्तक का इतना अधिक स्वागत कर मेरे उत्साह का वर्धन किया है। विद्वान् पाठक यदि कोई सुझाव भेज सकें तो मैं उनका हृदय से आभार मानूँगा।

दुर्गाकुण्ड
वैशाख पूर्णिमा
सं० २०१८

त्रिभुवन सिंह

विषय-सूची

विषय प्रवेश	...	...	१७
स्वच्छन्द धारा	...	..	१९
रोमांस और रोमांटिक	...	...	२३
रोमांस शब्द का आरम्भ और इतिहास	...	...	३२
रोमांटिक शब्द का ऐतिहासिक विकास	...	...	३३
स्वच्छन्दतावाद का पुनरुद्धार	...	...	३६
स्वच्छन्द काव्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि	...	...	३८
रोमांस और कल्पना	...	...	४४
स्वच्छन्दता और अभिव्यञ्जनावाद	...	...	५०
रोमांस और यथार्थ	...	...	५७
रीतिवाद और स्वच्छन्दतावाद	...	...	६२
क्लैसिक और रोमांटिक में भेद	...	...	६४
छायावाद और स्वच्छन्दतावाद	...	...	७२
रोमांटिक कविता और प्रेम	...	...	८३
नारी-भावना	...	...	९९
प्रकृति चित्रण	...	...	१०६
स्वच्छन्द धारा के प्रमुख कवि	...	...	११३

जयशंकर 'प्रसाद', सुमित्रानन्दन 'पन्त', सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', महादेवी 'वर्मा', रामकुमार वर्मा, हरिवंश राय 'बच्चन' शम्भूनाथ सिंह, प्रो० 'क्षेम'

विकास-क्रम	...	...	१९१
प्रथम उत्थान	...	...	१९३
द्वितीय उत्थान	...	...	१९७
तृतीय उत्थान	...	...	२०१
परिशिष्ट	...	...	२२१

आधुनिक हिन्दी कविता
की
स्वच्छन्द धारा

विषय-प्रवेश

इस ग्रन्थ-द्वारा मैंने मुख्यतः यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि आधुनिक युग के स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन ने हिन्दी कविता की सृष्टि में किस सीमा तक योग दिया है। आधुनिक युग की एक विशाल साहित्य-परम्परा से हिन्दी जगत 'छायावाद' के नाम से परिचित है। विगत दस वर्षों में ही इस भावधारा को लेकर लिखे जाने वाले आलोचनात्मक ग्रन्थों की संख्या इतनी अधिक रही है कि उस अनुपात में श्रेष्ठ रचनात्मक साहित्य-ग्रन्थों की सृष्टि नहीं हो सकी है। अधिकांश प्रकाशित आलोचनात्मक ग्रन्थ इस भावधारा की वैज्ञानिक सत्यता प्रमाणित करने में असफल रहे हैं और इन ग्रन्थों के आधार पर जो सामान्य धारणायें बन गई हैं, यदि उन्हें कसौटी मान लिया जाय तो बहुत सी श्रेष्ठ रचनाओं को इससे अलग कर देना पड़ेगा जिन्हें हम छायावाद के नाम से जानते चले आ रहे हैं।

किसी भी साहित्यिक भाव-धारा को संज्ञा प्रदान करने के पूर्व यह विचार कर लेना आवश्यक हो जाता है कि नामकरण द्वारा अभिप्रेत साहित्य की मूल प्रेरणा का प्रतिनिधित्व हो पा रहा है कि नहीं। इसके अतिरिक्त यदि अतीत साहित्य की भूमिका में उसका कहीं स्रोत मिल जाता है तो नाम करण उससे कुछ मिलता-जुलता हो तो और भी अच्छा है। विचार करने पर जान पड़ता है कि 'छायावाद' की कोई उसकी अपनी पारम्परिक ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि नहीं है और उसके अन्दर वे सभी कविताएँ भी भरी पड़ी हैं जो 'छायावाद' के तथाकथित सिद्धान्तों के प्रतिकूल हैं। सच तो यह है कि स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के अन्दर आने वाली सभी कविताओं को हम 'छायावाद' के नाम से जानने लगे हैं। 'स्वच्छन्दता' एक ऐसा शब्द ही है जिससे नवीनता का आभास होता है, जिसमें प्राचीनता के निर्मोक का त्याग और नूतनतम आकांक्षाओं के प्रति जागरूकता का उद्‌बोधन निहित है। 'स्वच्छन्दतावाद' शब्द रोमांटिसिज्म की तौल पर गढ़ा हुआ शब्द है। रोमांटिसिज्म पाश्चात्य साहित्य में एक विशाल विचार धारा के रूप में व्याप्त है जो वहाँ की सामाजिक परिस्थितियों की पुकार पर उठ खड़ा हुआ था। यह एक सामाजिक आन्दोलन के साथ हिन्दी साहित्य में आया जिससे इसने व्यक्ति के प्रत्येक सामाजिक अंगों

को प्रभावित किया है। प्रस्तुत पुस्तक में मैंने इसके क्रमिक विकास-भूमि तथ इसके द्वारा लाये गये सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन की समुचित व्याख्या की है

दीर्घकाल तक अंग्रेजी राज्य के शासन में रहने के कारण उनकी सांस्कृतिक एवं साहित्यिक रुचियों का प्रभाव भारतीय साहित्य पर भी पड़ा है। सबसे अधिक प्रभाव तो साहित्यिक अभिरुचियों पर इसलिये पड़ा कि अंग्रेजी साहित्य का अध्ययन प्रायः अनिवार्य हो गया था। प्रभाव ग्रहण करने में वंग देश सर्वप्रथम रहा है और प्रायः सभी प्रवृत्तियाँ देर या सबेर वहाँ अंग्रेजी साहित्य से छन कर गई हैं। ऐसा ही प्रभाव हिन्दी कविताओं ने भी ग्रहण किया है। 'छायावाद' नामक शब्द का जो प्रचलन हिन्दी साहित्य में हुआ उसकी यथार्थता पर तो मैंने अत्यधिक बल नहीं दिया है किन्तु दार्शनिक पृष्ठ-भूमि पर छायावाद की व्याख्या करने वाले आलोचकों को मैंने चुनौती अवश्य दी है। अब तक भी मुझे सन्देह है कि 'छायावाद' नाम की कोई साहित्यिक भावधारा को हिन्दी साहित्य में स्वीकार कर लेना समीचीन होगा! मैंने स्वछन्दतावाद को छायावाद का एक अंग नहीं बल्कि छायावाद को स्वच्छन्दतावाद का शैलीगत एक अंग माना है। 'रोमाटिसिज्म' शब्द के लिये मैंने स्वच्छन्दवाद तथा स्वच्छन्तावाद शब्दों का प्रयोग किया है रोमांटिक शब्द का रोमांस तथा रोमांटिसिज्म आदि शब्दों के साथ पाश्चात्य साहित्य के आधार पर ऐतिहासिक व्याख्या प्रस्तुत करने का मैंने प्रयत्न किया है। जहाँ कहीं भी मैंने हिन्दी कविताओं का प्रसंग उठाया है वहाँ कहीं भी मेरी प्रवृत्ति कवि-सूची उपस्थित करने की नहीं रही है केवल मैंने इस युग की प्रतिनिधि रचनाओं से यदि काम चल सका है तो मैंने चलाने का प्रयत्न किया है। 'जयशंकर प्रसाद', 'पंत', 'निराला' तथा 'महादेवी' जी आदि कुछ प्रमुख साहित्यिक कलाकारों की अलग से व्याख्या इसलिये कर दी गयी है कि जिससे स्वच्छन्दतावादी भावधारा द्वारा लाये गये काव्यगत मोड़ों की गति-विधि का मूल्यांकन किया जा सके। अन्त में परिशिष्ट जोड़ कर अन्य कवियों की जो संक्षिप्त व्याख्या की गयी है वह केवल इसलिये कि नवीनतम कृतियों तक उसके क्रमिक विकास को समझा जा सके। इस दृष्टि से सम्भव नहीं था कि प्रत्येक कवियों की व्याख्या की जाती। इसलिये जिन काव्यकारों का नाम नहीं आ सका है, उसका यह अर्थ नहीं कि उनके प्रति मेरी श्रद्धा नहीं है।

स्वच्छन्द धारा

कविता किसी भी साहित्य का प्रमुख अङ्ग है। आधुनिक युग में मानव जीवन की समस्याएँ इतनी विषम हो गयी हैं, उनमें इतनी विविधता आ गयी है कि उनकी अभिव्यक्ति के कारण ही साहित्य के आज विविध रूप दिखाई पड़ने लग गये हैं। किसी भी देश के साहित्य के इतिहास पर यदि हम दृष्टि डालें तो उसका आरम्भ कविता से ही हमें मिलेगा और आज भी अनेक साहित्य-रूपों के होते हुए भी साहित्य नाम से सहसा हम कविता का ही अर्थ लगा लेते हैं। किसी भी देश का साहित्य वहाँ के जीवन और जगत का जीवित इतिहास होता है। यदि हम किसी देश के सामाजिक जीवन-जगत् के विषय में ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं तो वह हमें उस देश के साहित्य में मिलेगा; क्योंकि साहित्य मानव-विचारों एवं अनुभूतियों की संचित निधि है। यदि साहित्य की व्याख्या करते समय उदारवादी दृष्टिकोण रखा जाय तो मानव-जन्य ज्ञान-विज्ञान, धर्म, दर्शन, इतिहास, राजनीति, अर्थशास्त्र और काव्य सभी इसकी लपेट में आ जाते हैं। इतना तो अन्तिम रूप से स्वीकार किया ही जा सकता है कि अधिक काल तक साहित्य और समाज एक दूसरे से अलग नहीं रह सकते। एक-दूसरे का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। इससे यह निर्विवाद है कि कविता के ऊपर भी मानव की तत्कालीन सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है। इसके साथ ही साथ कविता की कुछ स्वाभाविक दुर्बलताएँ भी हैं जिसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि उत्तरोत्तर बढ़ती हुई मानव-समस्याओं को जब काव्य अभिव्यक्त करने में असमर्थ सिद्ध होने लगा तब युग की माँगों के अनुसार अनेक अन्य साहित्यिक रूपों की उत्पत्ति हुई और आज हम देखते हैं कि गद्य साहित्य के अन्दर ही अनेक विषम-समस्याओं के समाधान पर विचार करना सम्भव हो रहा है। आज के इस अत्यन्त समर्थ अंग गद्य साहित्य के होते हुए भी जो कविता का अपना महत्व है उसका मूल कारण है उसका आकर्षक स्वरूप तथा उसके ज़माने और समस्त जीवन को अभिभूत कर देने की शक्ति।

समाज की रुचियों में जैसे-जैसे परिवर्तन होते गये, वैसे ही कविता के स्वरूप और उसके देखने की दृष्टि में भी परिवर्तन उपस्थित होता गया। यही

कारण है कि आदिकाल में कविता के प्रति जो दृष्टिकोण था, वह भक्तिकाल में नहीं रहा तथा भक्तिकाल में जो रहा, वह रीतिकाल में नहीं रहा और जो रीतिकाल में था वह आज नहीं रह सका। समसामयिक मान्यताओं के अनुसार ही तत्कालीन विद्वान् कविता की परिभाषा करते रहे हैं, किन्तु इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि किसी भी युग में कविता की रचना निरुद्देश्य नहीं हुई है। किसी न किसी रूप में हमें कविता में उस समय का समाज झाँकता हुआ अवश्य मिलेगा। इसके विरोध में यदि चाहें तो लोग कविवर तुलसीदास का मत उद्धृत कर सकते हैं कि—

'कीन्हें प्राकृत जन गुन-गाना।
सिर धुनि गिरा लाग पछिताना॥'

इस प्रकार मानव सम्बन्धी कविता, कविता की कोटि में ही नहीं आती, किन्तु बात ऐसी नहीं है। इस उक्ति को समझने के लिये हमें कवि और कविता की आत्मा को समझना होगा। महात्मा तुलसीदास जी ने जिस काल में अपनी रचनायें कीं वह हिन्दी साहित्य का आदि काल नहीं था जिसमें कि देश की स्वतन्त्रता अक्षुण्ण थी, भले ही आन्तरिक पारस्परिक कलह से उद्भूत रणचंडी का नग्न तांडव वर्तमान था, न तो वह कवि ही था जो अपने आश्रयदाता की रुचि को उकसा कर सम्मान तथा अर्थ लाभ करता और न तो वह समाज ही था कि ऐसी प्रवृत्तियों को प्रश्रय प्रदान करता, बल्कि तुलसीदासजी की रचनाएँ ऐसे युग की देन हैं जिनमें देश की राजनीतिक बागडोर विदेशी यवनों के हाथ में थी और भारतीय समाज सब प्रकार से परतन्त्र था। यह एक प्रकार की समस्या थी कि किस प्रकार सामाजिक मर्यादा और संस्कृति की रक्षा की जाय। किसी यवन आश्रयदाता की रुचि को अपनी रचना द्वारा उकसाने का अर्थ था अपने ही हाथों अपनी संस्कृति और सभ्यता की जड़ खोदना। तुलसीदास जी ने प्राकृतजन का प्रयोग ऐसे ही व्यक्तियों के लिए किया है, जिनके हाथों हम परतन्त्र थे। जब समाज में कोई ऐसा व्यक्ति सामने रह ही नहीं गया था कि जिसके पीछे हम विश्वास के साथ चल सकते तो सिवाय इसके कि एक आदर्श पुरुष की कल्पना की जाती और किया ही क्या जा सकता था। तुलसीदास जी की इस उक्ति से स्पष्ट झलकता है कि उस समय देश का नेतृत्व करने वाला समाज में कोई ऐसा व्यक्ति नहीं था जिसकी स्तुति की जाती।

भक्तिकाल के समाप्त होते ही साहित्य में जब दूसरा नवीन मोड़ आता है तो उस समय तक तत्कालीन परिस्थितियों से समाज समझौता कर चुका

था और यवनों की क्षत्र-छाया में जो हास-विलास और धन-वैभव उसके हिस्से पड़ गया था उसी में वह परम सन्तुष्ट था। यही कारण है कि कवियों की आदि कालीन प्रवृत्ति दूसरे रूप में पुनः उठ खड़ी हुई जिसमें से उस समय का अकर्मण्य कामुक विलासी समाज झाँक रहा है। जिस प्रकार समाज मौलिक आन्तरिक एवं वास्तविक समस्याओं को छोड़कर बाहरी तड़क-भड़क के पीछे पागल हो रहा था उसी प्रकार बाह्याडम्बरों से आँखों को चौंधिया देने वाली कविता को भी साहित्य की पुण्य पीठ पर प्रतिष्ठित किया गया। एका-एक कविता स्वर्ग से धरातल पर उतर आई और यह स्वीकार किया जाने लगा कि—

'यदपि सुजाति सुलच्छनी सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिन न विराजहीं कविता बनिता मित्त॥'

(केशवदास)

परम पुरुष के स्थान से उतर कर कविता वनिता की कोटि में आ गई जिसके लिये उस काल का सामाजिक वातावरण उत्तरदायी है। किन्तु उस समय के लोगों ने भी इसका अनुभव किया था कि कविता वही है जिसमें रमा देने की शक्ति के साथ-साथ सर्वग्राह्यता भी हो।

'तंत्री नाद कवित्त-रस, सरस राग रति रंग।
अनबूड़े बूड़े तरे, जे बूड़े सब अंग॥''

(बिहारी)

इसी काल म हमें कविता की उस धारा का सूत्र भी प्राप्त हो जाता है जिसका विकास आधुनिक काल की विभिन्न साहित्यिक धाराओं में हुआ है। घनानन्द जी ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि—

'लोग हैं लागि कबित्त बनावत।
मोहिं तो मेरे कबित्त बनावत॥'

जिसमें स्पष्ट रूप से काव्य की शास्त्रीय रूढ़ियों का तिरस्कार तथा गढ़कर कविता निर्माण की प्रवृत्ति की उपेक्षा का भाव निहित है। कविता अधिक दिनों तक परम्पराओं की शृंखला में बन्दिनी बनकर नहीं रह पायी और आधुनिक युग में वह समस्त अनुचित बन्धनों को तोड़ कर, युग की आवश्यकताओं तथा माँगों से बल प्राप्त कर स्वच्छन्द रूप में कवि के अन्तःकरण से फूट पड़ी, जिसमें श्रेष्ठतर जीवन की कल्पना, महत्वाकांक्षा, वैयक्तिक सम्मान तथा युग-जागरण क सम्मोहन गान निहित है।

आज जिसमें जीवन की सम्पूर्णता की अनुभूत अभिव्यक्ति का संकेत हो, वही कविता है। भावों का वह उन्मेष जो सौन्दर्य के माध्यम से तत्कालिक सुखानुभूति की सृष्टि करता है, साहित्य का सम्मानित पद प्राप्त करने का अधिकारी है। भावों के इस उन्मेष में वैयक्तिक अनुभूति की वह अपार शक्ति भर गयी है जिसके प्रवाह के वेग से शास्त्रीय परम्परित पक्के घाट टूट-फूटकर बह गये हैं और कवि भावों की पावन काव्य-सुरसरि मानव-प्रकृति के स्वच्छन्द प्रांगण में सगर-सुत सदृश वर्तमान सामाजिक तथा राष्ट्रीय विषमताओं को पूत करने के लिये प्रवाहित हो रही है। काव्य-कला नियम से परे है जिसकी लपेट में नियति भी पड़ी रहती है। कविता समाधान की वह वाणी है जो कवि की गहन मौन अनुभूति को मुखर करती है जिसके लिये मौन अनुभूति का, जिसे चिन्तन कह सकते हैं, होना अनिवार्य है; क्योंकि यदि मौन का स्रोत सूख जाय तो वाणी निकल ही नहीं सकती। तर्क काव्य कभी नहीं हो सकता, चाहे वह महाकाव्य ही क्यों न हो; क्योंकि मर्म की वाणी ही काव्य है। कविता का जितना सम्बन्ध अनुभूति से है उतना तर्क से नहीं। वर्णन में आवरण उत्सुकता बढ़ाने का कार्य अवश्य करता है किन्तु यह ऐसा न हो कि भावों को दुर्बोध बना दे। यह आवरण ऐसा होना चाहिये जो ढंका भी हो और खुला भी; क्योंकि आवरण को हटाकर भावों को सुबोध बनाने के लिये कवि को सामने आना ही पड़ता है जैसा कि एक कवि ने कहा है—

'पद लाख पड़ा रहे तो भी अभेद
के भेद को खोलना ही पड़ता है॥
छिप के उर आवरणों में मुझे भी,
कभी-कभी बोलना ही पड़ता है॥'

इस प्रकार आधुनिक युग में जिस कविता द्वारा मानव-समाज की विविध समस्याओं, मनुष्यों की दैनिक अनुभूतियों तथा भावी स्वर्णिम कल्पनाओं की अत्यन्त सहज एवं स्वच्छन्द अभिव्यक्ति हो रही है उसे हम स्वच्छन्द या स्वच्छन्दतावादी कविता के नाम से अभिहित कर सकते हैं जो कि विभिन्न दिशाओं में विभिन्न उद्देश्यों को लेकर आगे बढ़ती दिखाई पड़ती है। इसके साथ-साथ यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि सहसा जो यह साहस हिन्दी-साहित्य को मिला है उसमें अंग्रेज जाति और अंग्रेजी भाषा-साहित्य का महत्त्वपूर्ण योग है।

स्वच्छन्दतावाद सम्बन्धी विभिन्न मत

रोमांस और रोमांटिक

(Romance and Romantic)

रोमांटिक सामान्य अथवा साधारण का विलोम है। स्टोडर (Stodder) का कथन है कि इस दृष्टि से इसका तात्पर्य ऐसी इच्छा के रूपान्तर से है जो सामान्य से, साधारण तुष्टि से और स्थिरता से भिन्न हो, इसके अतिरिक्त इसकी स्थिति ऐसे क्षेत्र में हो जिसमें निराधार इच्छाओं के लिये शक्तिशाली प्रयत्न होता हो।[1]

जिस साहित्य-रूप की रचना उक्त विचारधारा को सामने रखकर हुई और उससे जिस साहित्यिक परम्परा का निर्माण हुआ उसे स्वच्छन्दतावाद (Romanticism) के नाम से अभिहित कर सकते हैं। स्वच्छन्द अथवा स्वच्छन्दतावाद स्टोडर (Stodder) के अनुसार इच्छाओं का कल्पना के क्षेत्र में अनुवाद है।[2]

रोमांटिक, शब्द के अनुरूप अर्थ नहीं रखता। यह प्रतीकों का सन्देश है और औपचारिकता से नितान्त भिन्न है।

लेटरहेज (Laterhedge) महत्वाकांक्षा को ही स्वच्छन्दतावाद का मूलतत्व मानता है। उसके अनुसार रोमांटिक वैयक्तिक अभिव्यक्ति है। रोमांटिक और क्लैसिक (स्वच्छन्द और रीति) का वही सम्बन्ध है जो संगीत और प्लैस्टिक कला का होता है।[3]

---

1. "In the sense it means transference of desire away from common place, stay at home ordinary contentedness into region of rash attempt and vague longing". —Stodder

2. "Romanticism is translation from the probably into the fancy haunted regions of the longed for".

3. "Romantic is self reflecting. romantic relates to classic some what as music relates to plastic art".

प्लैस्टिक कला का सम्बन्ध बुद्धि से है, वह बुद्धिजन्य है और संगीत मानव-भावों की स्वाभाविक स्वच्छन्द अभिव्यक्ति है। इस प्रकार वह स्वच्छन्दतावाद को संगीत की भाँति कवि की स्वाभाविक स्वच्छन्द अभिव्यक्ति मानता है।

'हरफोर्ड' ने इसे काल्पनिक अनुभूति का एक असाधारण विकास माना है।[1]

'कालरिज' (Coleridge) के अनुसार तो "रोमांस के लेखकों ने कल्पना के प्रभुत्व का निर्णय पर मुलम्मा किया है"।[2]

अर्थात् रोमांटिक लेखकों के साहित्यिक व्यक्तित्वों का निर्माण काल्पनिक वर्णनों के आधार पर होता है, जिन वर्णनों में न तो तर्क एवं बुद्धि का लगाव रहता है, न विचारों की एक स्थिर नियमित परम्परा मिलती है और न उनमें कोई सम्भावित घटना ही पाई जाती है। उसने अन्त में यह परिणाम निकाला है कि स्वछन्द प्रवृत्तियों के अन्दर एक प्रकार का मानसिक सन्तुलन होता है जिनके द्वारा वे साधारण अनुभव के धरातल से हवा में चढ़ना चाहते हैं।[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'कालरिज' के विचार रोमांटिक काव्य के सम्बन्ध में सहानुभूतिपूर्ण नहीं थे। वह काव्य को कोरा आत्मनिवेदन नहीं मानता; क्योंकि उसका विश्वास है कि कविता आत्मनिवेदन मात्र होकर इतनी वैयक्तिक हो जायगी कि वह कि सार्वजनिकता के पद से च्युत हो जायगी। वह उच्चकोटि की कविता के लिये उसकी अभिव्यक्ति का एकदम गरात्मक होना अनिवार्य मानता है। जब कविता बाह्य संसार से हटकर आत्मपरक होने लगती है तो वहीं से उसके अनुसार उसका पतन आरम्भ हो जाता है। किन्तु बात ऐसी नहीं है कि स्वच्छन्दतावादी कविता का बाह्य संसार से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। स्वच्छन्दतावादी कवि अपनी वैयक्तिक काल्पनिक

---

1. "An extraordinary development of imagiative sensibility". —Herford

2. The author of the romance have yielde ascendancy of imagination over judgement. —Coleridge and his group.

3. Romances have a kind of mental balance or mounting into the air from the ground of ordinary experience"—Coleridge.

अनुभूति के माध्यम से संसार के उन अप्राप्य तथा गोप्य साधनों एवं तत्वों की अभिव्यक्ति करता है जिनके सुलभ होने से मानव-जीवन के श्रेष्ठतर होने की सम्भावना रहती है। यह सत्य है कि इस संसार में मानव की सभी इच्छायें पूरी नहीं होतीं किन्तु इच्छा मात्र को समाप्त कर देने से भी कभी कोई इच्छा अपने आप पूर्ण नहीं हो सकती। जिज्ञासा एवं कामना ही मानव-जीवन के ऐसे तत्व हैं जो उसके जीवन को अधिक गतिशील रखते हैं। मानव-जीवन को गतिशील बनाना तथा प्रेरणा प्रदान करना ही स्वच्छन्तावादी साहित्य का मूल मन्त्र है। जहाँ तक इस पर वैयक्तिकता का आरोप है, कहीं भी कोई ऐसी कविता नहीं है जो सर्वमान्य हो तथा सभी के लिये रुचिकर हो; क्योंकि संसार के सभी प्राणी एक ही रुचि के नहीं होते हैं। इसके अतिरिक्त वैयक्तिक तथा आत्मपरक होना ही स्वच्छन्दवादी कविता का एकमात्र गुण नहीं है। कवि अपनी साधना और अनुभव से निखार कर जो सबल अभिव्यक्ति करता है वह केवल उसकी ही न रहकर सब की हो जाती है।

'फास्टर' (Foster) महोदय ने तो इसके सम्बन्ध में यहाँ तक कह डाला है कि यह एक साहित्यिक विचारधारा कभी बन ही नहीं सकती। 'फास्टर' का निबन्ध स्वयं अपने में ही मूल्यवान है। उसकी यह विशेषता है कि न तो उसने और न तो उसके सहयोगी समकालीन लेखकों ने इस विचार-धारा के वास्तविक महत्व का अनुभव किया अथवा यह स्वीकार किया कि इसकी भी अभिव्यक्ति कविता तथा आलोचना में हो सकती है। फास्टर के आगे आनेवाले लेखकों की पीढ़ी ने इस विचार-धारा को विचारार्थ रखा है।

'विलियम वर्ड्स्वर्थ' के साहित्यिक जीवन के दो रूप हैं जो एक-दूसरे से केवल भिन्न ही नहीं बल्कि परस्पर विरोधी भी हैं। अपने साहित्यिक जीवन के आरम्भ का वर्ड्स्वर्थ अन्त के 'वर्ड्स्वर्थ' से बिलकुल भिन्न है। उसकी समसामयिक, पारिवारिक तथा वैयक्तिक परिस्थितियाँ ही ऐसी थीं जिसने उसके जीवन में इतना बड़ा परिवर्तन ला खड़ा किया। आरम्भ में जो वर्ड्स्वर्थ 'एक महान्' क्रान्तिकारी तथा स्वच्छन्द विचारक था, वही जीवन के अन्त तक पहुँचते-पहुँचते परिवर्तन का विरोधी तथा शास्त्रीय कठघरों का बन्दी हो गया। आरम्भ में कविता के प्रति उसका जो दृष्टिकोण था उससे रोमांटिक काव्य के सम्बन्ध में उसके मत का ज्ञान किया जा सकता है। उसके अनुसार 'सबल भावों के वेग की स्वाभाविक उमड़न ही कविता का रूप धारण कर लेती है।'[1]

---

1. Poetry is the spontanious overflow of powerful feelings."

इससे स्पष्ट हो जाता है कि उसका यही निश्चित मत था कि काव्यानुभूति प्रत्यक्षानुभूति कभी नहीं है और न कवि का कर्त्तव्य ही प्रत्यक्षानुभूति करना है। अतः 'वर्ड्स्वर्थ' का कहना है कि प्रत्यक्षानुभूति की दशा में काव्य का सृजन नहीं हो सकता। कविता तो सृजन है। सृजन के पीछे जो वह भावों की सबल शक्ति स्वीकार करता है वही रोमांटिक काव्य की वास्तविक प्रेरणा है। 'वर्ड्स्वर्थ' के कथन में उतना मूल्य इसलिये नहीं रह जाता कि वह अपनी इस विचारधारा को आगे नहीं बढ़ा पाता, बल्कि इसके विपरीत उसका कट्टर विरोधी हो जाता है।

जर्मन विद्वान फ्रिजस्ट्रिच (Fritgstrich) का मत है कि 'स्वच्छन्दतावाद मनुष्य की पूर्णता के लिये वह महत्वाकांक्षा है, जो कभी प्राप्त न हो।'[1]

इस परिभाषा से रोमांटिक काव्य की अनुपादेयता ही अधिक व्यञ्जित होती है किन्तु अनजाने में ही उस विद्वान ने इतना तो स्वीकार कर ही लिया है कि यह एक साहित्यिक विचारधारा है जिसमें महत्त्वाकांक्षा की अभिव्यक्ति होती हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि रोमांटिक साहित्य उस मानव-समाज के लिये उस मानव-समाज द्वारा निर्मित साहित्य है जो अपनी वर्तमान परिस्थितियों से सन्तुष्ट नहीं है, उसकी बहुत कुछ ऐसी इच्छायें हैं जो अपूर्ण हैं और जिनको पूर्ण करने की वह इच्छा रखता है अर्थात् यह एक जीवन्त तथा गतिमान और क्रियाशील एवं कर्मठ समाज का साहित्य है।

आचार्य पं० रामचन्द्रजी शुक्ल ही एक ऐसे समीक्षक हैं जिन्होंने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास द्वारा सर्वप्रथम हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियों के क्रमिक विकास का प्रामाणिक अध्ययन प्रस्तुत किया, इसीलिये हमारे लिए आवश्यक हो जाता है कि हम स्वच्छन्दतावाद के सम्बन्ध में दिये गये उनके मत को जानें। साहित्यिक प्रवृत्तियों के परिवर्तन के सम्बन्ध में उनका दृढ़ विश्वास है कि जब काव्य-धारा पण्डितों की बँधी-बँधाई प्रणालियों पर ही अधिक चलने लग जाती है और प्राकृत के पुराने रूपों से लदी होने के कारण प्रचलित देशी भाषाओं से शक्ति नहीं प्राप्त कर पाती तब उसे सजीव और चेतन प्रसार देश की सामान्य जनता के बीच बहती हुई स्वच्छन्द प्राकृतिक भावधारा के पास लेकर आना पड़ता है। "यह भावधारा अपने साथ हमारे चिर-परिचित पशु-पक्षियों, पेड़-पौधों, जङ्गल-मैदानों आदि को भी समेटे चलती है। देश के

1. "Romanticism is man's longing for a perfection, never to be attained."

स्वरूप के साथ यह सम्बद्ध चलती है। एक गीत में कोई ग्रामवधू अपने वियोग-काल की दीर्घता की व्यञ्जना अपने चिर-परिचित प्रकृति-व्यापार द्वारा इस भोले ढग से करती है—

'जो नीम का प्यारा पौधा प्रिय ने अपने हाथ से द्वार पर लगाया, वह बड़ा होकर फूला और उसके फूल झड़ भी गये, पर प्रिय न आया।'

इस भावधारा की अभिव्यञ्जना प्रणालियाँ वे ही होती हैं जिन पर जनता का हृदय इस जीवन में अपने भाव स्वभावतः ढालता आता है। हमारी भाव-प्रवर्तिनी शक्ति का असली भण्डार इसी स्वाभाविक धारा के भीतर निहित समझना चाहिए। जब पण्डितों की काव्यधारा इस स्वाभाविक भावधारा से विच्छिन्न पड़ कर रूढ़ हो जाती है, तब वह कृत्रिम होने लगती है और उसकी शक्ति भी क्षीण होने लगती है। ऐसी परिस्थिति में इसी भावधारा की ओर दृष्टि ले जाने की आवश्यकता होती है। दृष्टि ले जाने का अभिप्राय है उस स्वाभाविक भावधारा के दलाव की नाना अन्तर्भूतियों को परख कर शिष्ट काव्य के स्वरूप का पुनर्विधान करना। यह पुनर्विधान सामंजस्य के रूप में हो, अन्ध प्रतिक्रिया के रूप में नहीं, जो विपरीतता की हद तक जा पहुँचती है। इस प्रकार के परिवर्तन को ही अनुभूति की सच्ची नैसर्गिक स्वच्छन्दता (True Romanticism) कहना चाहिए; क्योंकि यह मूल प्राकृतिक आधार पर होता है।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वच्छन्दता के सम्बन्ध में जो मत आचार्य प्रवर ने व्यक्त किये हैं उनमें ऐसी बहुत-सी बातें सिमटकर आ गयी हैं जो रोमांटिक काव्य अथवा स्वच्छन्दतावादी काव्य की प्रमुख विशेषतायें हैं। यद्यपि शुक्लजी ने परिवर्तन को, जो इस काव्य की मूल प्रेरणा है, अवश्य पकड़ा है तथापि उनके द्वारा प्रस्तुत की गयी परिभाषा को हम सर्वाङ्गपूर्ण नहीं कह सकते; क्योंकि शुक्लजी ने उस ओर संकेत नहीं किया कि इस काव्य की अभिव्यञ्जना पद्धति क्या है। उन्होंने इस ओर संकेत तो किया कि काव्य के अन्दर स्वाभाविक भावधारा की अभिव्यक्ति होती है, किन्तु अभिव्यक्ति के माध्यम की ओर उन्होंने संकेत नहीं किया। यदि सीधे-सीधे तत्कालीन सम-सामयिक प्रवृत्तियों एवं विचारों को सीधे-सादे ढंग से कह दें तो उसमें इति-वृत्तात्मकता आ जायेगी जिसे हम स्वच्छन्दतावादी रचना कहने के लिए कभी

१—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० ६०१, सं० २००३।

भी तैयार नहीं हैं। इसके साथ ही उन्होंने इस साहित्य के लक्ष्य की ओर भी ध्यान नहीं दिया, परन्तु इतना तो हम कह ही सकते हैं कि उन्होंने एक ऐसा ठोस धरातल तो दे ही दिया है जिस पर खड़े होकर हम उस साहित्य की व्याख्या कर सकते हैं।

आचार्य डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत है कि उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में इस दृष्टि के स्थान पर आत्मानुभूति आवेगधारा और कल्पना से ओतप्रोत जो एक अद्भुत उन्मुक्त प्रबल भाव-धारा अँग्रेजी साहित्य में प्रवाहित हो रही थी, उसे ही विशिष्ट दृष्टि भंगी की प्रधानता के कारण हिन्दी के विद्वानों ने जो स्वच्छन्दतावाद का नाम दे दिया है वह उस भावधारा को पूर्णरूपेण व्यक्त नहीं कर पाता। उनके अनुसार 'रोमांटिक साहित्य वस्तुतः जीवन के उस आवेगमय पहलू पर जोर देने के कारण अपना यह रूप धारण कर सका है जो अन्तर्दृष्टि द्वारा चालित और प्रेरित करता रहता है।'[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि द्विवेदीजी ने रोमांटिक काव्य की मूल प्रेरणा और अभिव्यञ्जना के माध्यम को पकड़ा है जिसकी शुक्लजी उपेक्षा कर गये थे। कवि की अन्तर्दृष्टि ही कल्पना के सहारे जब व्यक्त होती है तो रोमांटिक अथवा स्वच्छन्द काव्य की सृष्टि होती है। इसके अतिरिक्त इसकी प्रेरणा के मूल में जो अत्यन्त महत्व की वस्तु है वह श्रेष्ठतर जीवन की कामना एवं कवि की महत्वाकांक्षा है जिसका संकेत द्विवेदीजी की परिभाषा में नहीं मिलता, किन्तु जहाँ तक उनका यह कहना है कि 'रोमांटिक साहित्य की वास्तविक उत्सभूमि वह मानसिक गठन है, जिसमें कल्पना के अविरल प्रवाह से घन-संश्लिष्ट निविड़ आवेग की ही प्रधानता होती है। इस पर कल्पना का अविरल प्रवाह और निविड आवेग दो निरन्तर घनीभूत मानसिक वृत्तियाँ ही इस व्यक्तित्व प्रधान साहित्यिक रूप की प्रधान जननी है, परन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि ये दोनों एक दूसरे से अलग रहकर काम करती हैं।'[2] इसमें दो मत हो ही नहीं सकते। बिना कल्पना का सहारा लिये मानसिक चिन्तन एवं आन्तरिक अनुभूतियों को प्रकट ही नहीं किया जा सकता। द्विवेदीजी रोमांटिक काव्य के

---

१. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, "रोमांटिक साहित्य-शास्त्र" की भूमिका पृ० १।

२. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : "रोमांटिक साहित्य-शास्त्र" की भूमिका पृ० २।

मूल में विद्रोह की भावना नहीं मानते बल्कि उसके विरोधों को परिस्थितिजन्य बतलाते हैं और उसे स्वाभाविक स्वच्छन्द भावधारा के रूप में स्वीकार करते हैं। इस सम्बन्ध में उनका कथन है कि 'व्यक्ति की स्वतन्त्र अनुभूति तो कल्पना और आवेग के माध्यम से ही प्रकट होती है और जब वह प्रकट होती है तो नीति और सदाचार के परिपाटीविहित मानों से सब समय उसका सामंजस्य हो नहीं होता। कई बार उसे ऊपरी सदाचार के विरुद्ध विद्रोह करना पड़ता है। परन्तु, यह विद्रोह उसका मूल स्वर नहीं है। हिन्दी साहित्य के छायावादी उत्थान के समय भी इस प्रकार की उन्मुक्त आवेग प्रधान और कल्पना प्रवण अन्तर्दृष्टि दिखी थी। कई कवियों में उसका विद्रोहमूलक रूप ही प्रधान हो उठा। परन्तु, यह भली-भाँति समझ लेना चाहिये कि यह विद्रोह केवल विशेष प्रकार की वैयक्तिक दृष्टि भंगी के साथ परिपाटी-विहित रसास्वादन का सामंजस्य न हो सकने का बाह्य रूप मात्र है।'[1] इस प्रकार वे इसके विरोधी रूप को बाह्य परिस्थितिजन्य बतलाते हैं, आन्तरिक नहीं। जो हो, अपनी सीमाओं के होते हुए भी यह परिभाषा अधिक निकट तक हमें पहुँचाती है जहाँ से रोमांटिक काव्य अधिक स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ने लग जाता है।

पं० नन्ददुलारे वाजपेयी के अनुसार 'स्वतन्त्रता की लालसा और बन्धनों का त्याग रोमांटिक धारा के मूल में व्याप्त है।'[2] वे स्वीकार करते हैं कि जो धारा अत्यन्त अनियमित पद्धति, संयमरहित प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देती है, वह रोमांटिक गति की सूचक है। काव्य में भावना के अतिरेक से जो असंयम आता है, नियमों की जो अवहेलना होती है, वह रोमांटिसिज्म के अति का परिचायक है। यदि परम्परावादी शैली में काव्य के शरीर का आग्रह अतिरेक है, तो रोमांटिसिज्म उसकी अपेक्षा अशरीरी कल्पना और अरूप एवं अनन्त की भावना में रमना है। इसके अतिरिक्त स्वच्छन्दतावादी काव्य में अभिव्यञ्जना की प्रधानता रहती है। इस प्रकार अनन्त की भावना में रमने की बात कहकर वाजपेयीजी ने स्वच्छन्दतावाद और रहस्यवाद पर सोचने के लिये आधारभूमि दे दी; किन्तु स्वच्छन्दतावाद और जो कुछ हो, रहस्य नहीं। उनका कथन है कि 'रोमैंटिसिज्म में वस्तु का उदात्त होना आवश्यक नहीं। साधारण-से-साधारण वस्तु में भी काव्यात्मक चित्रण बनने की क्षमता है। यह स्वच्छन्दता-

---

१. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी—"रोमांटिक साहित्य शास्त्र की भूमिका" पृ० २।

२. पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, "आधुनिक साहित्य।"

वादी मत है[1]।' इस प्रकार वाजपेयी जी ने स्पष्ट कर दिया है कि शास्त्रीय नुस्खों के आधार पर ही स्वच्छन्दतावादी कवि अपने काव्य की विषय-वस्तु नहीं चुनता। वह शूर-सामन्तों तथा राजा-महाराजाओं का ही यशोगान नहीं करता, बल्कि वह सर्वसाधारण लोगों से लेकर छोटी-सी-छोटी वस्तुओं तक को भी अपने काव्य का विषय बनाता है। इस साहित्य के अन्दर चित्रण के योग्य वस्तुओं की कोई सीमा नहीं निर्धारित की गयी है। इसमें अधिक व्यापक और भावात्मक प्रवृत्ति पाई जाती है। काव्य में प्रयुक्त होने वालों का भी कोई बन्धन नहीं है और इसके अन्दर वस्तु तथा शैली में कोई तात्त्विक भेद नहीं माना जाता।

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के मत से स्वच्छन्दतावाद का अर्थ होता है 'सामाजिक बन्धनों को तोड़कर जीवन को स्वच्छन्द भूमि में विचरण करने की लालसा'[2] वे यह मानते हैं कि आधुनिक काव्यधारा के आगमन के पूर्व रहस्यवाद, स्वच्छन्दतावाद और छायावाद ये तीनों प्रवृत्तियाँ साहित्य में प्रवेश पाने के लिये उतावली हो रही थीं और अवसर पाकर एक साथ ही आईं। तत्कालीन घुटनशील परिस्थितियों के कारण मन सांसारिक जीवन से ऊब रहा था, उसने रहस्यवाद को जन्म दिया, सामाजिक रूढ़ियों के कठोर बन्धन को अस्वीकार करने के लिये स्वच्छन्दतावाद का प्रादुर्भाव हुआ और छायावाद काव्य शैली के विद्रोह में ही उठ खड़ा हुआ है। अभिव्यञ्जना का नूतन विधान छायावाद का मुख्य लक्ष्य रहा है। शुद्ध प्रतीकात्मक और शुद्ध अभिव्यञ्जनात्मक रचनायें छायावाद ही कहला सकती थीं। इसलिये जहाँ तक काव्य-विषय का सम्बन्ध है, प्रमुख रूप में दो ही प्रवृत्तियाँ चल रही थी जिनमें से एक थी रहस्यात्मक और दूसरी थी स्वच्छन्दात्मक। मिश्रजी के कथन से स्पष्ट लगता है कि रहस्यवाद, छायावाद और स्वच्छन्दतावाद का मूल उत्स एक है और साथ-ही-साथ वे उनका स्वतन्त्र अस्तित्व भी स्वीकार करते जान पड़ते हैं। यदि इन तीनों मूल प्रवृत्तियों का मूल उत्स एक है, तो उनके अलग-अलग अस्तित्व स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ती। या तो तीनों प्रवृत्तियों को यह मान लेना चाहिये कि वे सभी एक ही वस्तु के विभिन्न रूप हैं अथवा यह स्वीकार कर लेना चाहिये कि आगे चलकर आवश्यकतानुसार एक ही प्रवृत्ति का तीन दिशाओं में स्वतन्त्र रूप से विकास हुआ।

---

१. पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, "आधुनिक साहित्य" पृ० ३९१।

२. पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, "हिन्दी का सामयिक साहित्य," पृ० ५४।

आगे चलकर जो उन्होंने इसके सम्बन्ध में अभिव्यञ्जना की बात कही है, वह इसे छायावाद से अभिन्न कर देती है; क्योंकि उन्होंने माना है कि "स्वच्छन्दतावादी अभिव्यञ्जना के वैभव का चाहे त्याग न करे, किन्तु उसमें गहरी अनुभूति के बिना जगे काव्य की प्रेरणा नहीं जगती थी। लोक-भूमि पर विश्वास के साथ फिर से उतरने वाले शुद्ध स्वच्छन्दतावादी ही दिखलाई पड़े।"[1]

डाक्टर नगेन्द्र छायावाद को रोमानी कविता से अभिन्न मानते हैं। उनके अनुसार "इसमें सन्देह नहीं कि छायावाद मूलतः रोमानी कविता है और दोनों की परिस्थितियों में भी जागरण और कुण्ठा का मिश्रण है परन्तु फिर भी यह कैसे भुलाया जा सकता है कि छायावाद एक सर्वथा भिन्न देश और काल की सृष्टि है। जहाँ छायावाद के पीछे असफल सत्याग्रह था, वहाँ रोमांटिक काव्य के पीछे फ्रांस का सफल विद्रोह था, जिसमें जनता की विजयिनी सत्ता ने समस्त जागृत देशों में एक नवीन आत्मविश्वास की लहर दौड़ा दी थी। फल-स्वरूप वहाँ के रोमानी काव्य का आधार अपेक्षाकृत अधिक निश्चित और ठोस था, उसकी दुनिया अधिक मूर्त थी, उसकी आशा और स्वप्न अधिक निश्चित और स्पष्ट थे, उनकी अनुभूति अधिक तीक्ष्ण थी। छायावाद की अपेक्षा वह निश्चय ही कम अन्तर्मुखी एवं वायवी थी।"[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि नगेन्द्रजी ने छायावाद को रोमांटिक काव्य का ठीक-ठीक अनुवाद भले ही न माना हो, किन्तु उसे रोमांटिक काव्य के अन्दर ही स्वीकार किया है। यह सत्य भी है कि किसी भी देश की कोई भी साहित्यिक प्रवृत्ति ठीक-ठीक उसी रूप में अन्य देश में नहीं विकसित हो सकती; क्योंकि इसमें सन्देह नहीं कि भारत की भौगोलिक स्थिति, सामाजिक रहन-सहन, सांस्कृतिक मर्यादा तथा आचार-विचार आदि सभी पाश्चात्य देशों से भिन्न हैं। इसलिये पाश्चात्य साहित्य की प्रवृत्ति को विकसित होने की जो भूमि वहाँ मिल सकती है, वह भारत में मिलनी कठिन ही; नहीं असम्भव भी है। अतः, स्वाभाविक है कि जब कभी भी वहाँ की कोई विचार-धारा हमारे बीच आयेगी तो कुछ परिवर्तन के साथ ही।

---

१. पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, "हिन्दी का समसामयिक साहित्य।"

१. डा० नगेन्द्र, "आधुनिक हिन्दी काव्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ", पृ० १४।

रोमांस शब्द का आरम्भ और इतिहास

'लैटिन' के बिगड़ने अथवा उसके विभिन्न रूपों में परिवर्तित हो जाने के कारण जो बोलियाँ निकलीं उन्हें विद्वानों ने रोमांस के नाम से पुकारना आरम्भ किया। शब्द रोमांस (Romance) तथा मध्य युग के काव्यात्मक 'रोमांसेज' में से एक तत्कालीन सभ्यता और जीवन का तथा दूसरा भाषा और रस्मोरिवाज़ का अनुवाद था। स्टोडर (Stodder) ने स्वीकार किया है कि 'रोमांस दूर से लाये हुए एक शब्द का परिवर्तित स्वरूप है जो विदेशी होता है। यह उस जीवन की ओर संकेत करता है जो वर्तमान से अच्छा हो, अधिक पूर्ण हो तथा उसकी आशा वर्तमान जीवन के लिये न की जाती हो और जिसके सम्बन्ध में ज्ञान धुँधला हो; किन्तु वैसे जीवन का होना वर्तमान जीवन में कभी भी सम्भावित नहीं है।'[1]

ऐतिहासिक दृष्टि से यदि देखा जाय तो रोमांटिक (Romantic), रोमांस (Romance) तथा रोमांटिसिज्म (Romanticism) यानी स्वच्छन्दतावाद अथवा स्वच्छन्दतावाद का आन्दोलन तीनों तीन विभिन्न वस्तुएँ हैं। कला और साहित्य में रोमांटिक आन्दोलन निश्चित ही एक समर्थनीय घटना है। रीति तथा स्वच्छन्दता आरम्भ से ही मानव-जीवन के साथ चिपकी चली आई हैं, इतिहास इसका साक्षी है। जब हम इस शब्द की प्राचीनता की ओर ध्यान देते हैं यानी ऐतिहासिक रोमांस की ओर दृष्टिपात करते हैं तो हमें यह देखने को मिलता है कि आज जो रोमांस से हम तात्पर्य लेते हैं वह प्राचीन रोमांस से सर्वथा भिन्न है। इससे यही परिणाम निकलता है कि चाहे प्राचीनतर (older) रोमांस हो अथवा कल्पना, मध्ययुगीन रोमांस हो अथवा ईसाइयत या दृश्य और निर्माण का रोमांस हो, सभी केवल एक आन्दोलनमात्र हैं।

---

1. "A Romance is something transferred brought from afar. A romance is something hinting of a life better, completer, nobler than the present life, dimly known, detached from hoped for yet never expected in the present". —K. K. Sharma : "An Introduction to the Poetry of Romantic Revival".

साहित्य, विचार और कला के इतिहास में रोमांटिक आन्दोलन एक निश्चित समर्थनीय विचारधारा है। 'क्लैसिक' और 'रोमांटिक' दोनों शब्द इतिहास में मानव हृदय के सिकुड़न और फैलाव हैं। एक ओर एक हमारी व्यवस्था की आवश्यकताओं का प्रतिनिधित्व करता है, सयोग और विस्तार में समन्वय स्थापित करता है तथा भाव अथवा विचार-क्रम की एक निश्चित रूपरेखा तैयार करता है और दूसरी ओर दूसरा प्रत्येक व्यक्ति के अदृश्यविकास का सूक्ष्मातिसूक्ष्म अन्वेषण करता है। रोमांस की वास्तविक अभिव्यक्ति तब होती है जब साहित्यकार तर्क को सामने रखकर चेतन अवस्था में अपनी कल्पना, स्वप्न तथा आन्तरिक प्रेरणाओं की अभिव्यक्ति करता है। मध्ययुगीन रोमांस इसलिये रोचक नहीं है कि वह उस समय के व्यक्तियों के विचार तथा जीवन की अभिव्यक्ति करता है अथवा उन्हें सामने लाता है, बल्कि इसलिए रोचक है कि वह तत्कालीन पुरुषों के स्वप्नों का प्रतिनिधित्व करता है। साधारणतः उस शब्द अथवा साहित्य से हम रोमांटिक (Romantic) शब्द का बोध कर सकते हैं जिसके द्वारा रोमांस की अभिव्यक्ति होती हो।

रोमांटिक शब्द का ऐतिहासिक विकास

साहित्य में रोमांटिसिज्म अथवा स्वच्छन्दतावाद जिस समय एक भावधारा के रूप में स्वीकृत हुआ उसके पूर्व सत्रहवीं शताब्दी के आसपास रोमांटिक शब्द का प्रादुर्भाव हो चुका था। सत्रहवीं शताब्दी में जो दृष्टिकोण अपनाया गया था उसके मुख्यतः दो रूप थे (१) रोमांस और (२) कल्पना। रोमांटिक शब्द विशेषण होते हुए भी संज्ञा रोमांटिसिज्म (Romanticism) से अधिक प्राचीन है। इस शब्द का प्रयोग पाश्चात्य साहित्य में इसके साहित्य में प्रवेश करने से अधिक पूर्व ही होने लग गया था और सम्भवतः इसी से आगे चलकर इसका निर्माण हुआ। सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में रोमांटिक (Romantic) शब्द पहली बार अंग्रेजी साहित्य में प्रयुक्त हुआ। यह शब्द रोमांटिक काल्पनिक कथाओं की विशेषता प्रकट करता था और उन्हीं मिथ्या कथाओं के आधार पर रोमांटिक (Romantic) शब्द को बहुत खींच-तान कर जिस अर्थ में प्रयुक्त किया जाने लगा उसका अर्थ यही था कि वास्तविक वस्तु स्थिति के विपरीत अर्थात् काल्पनिक। इस प्रकार साधारणतः इस शब्द का प्रयोग साहित्य में बुरे एवं भद्दे अर्थों में किया जाने लगा। यह शब्द काल्पनिक यानी अमूलक, हँसी उत्पन्न करने वाले, अप्राकृतिक तथा निरर्थक बड़े-बड़े प्रयोग किये जाने वाले शब्दों के साथ जोड़ दिया गया।

इवलिन (Evelyn) ने सन् १६५४ ई० में अपनी एक डायरी में लिखा है कि : "There is also in the side of this hand a very romantic seat."

इस प्रकार हम देखते हैं कि सन् १६५४ ई० में रोमांटिक शब्द प्रयुक्त हुआ है। उसी समय से इस दृष्टि को सामने रखकर अनेक अद्भुत एवं असम्भावित कथाओं को महत्ता मिलने लग गई थी। यह प्रवृत्ति मुख्यतः सत्रहवीं शताब्दी के अन्त में विकसित हुई थी। इसके सम्बन्ध में पोप के विचार बड़े ही उत्तम ढंग से दो पंक्ति की कविता में प्रस्तुत किये गये हैं।[1]

ठीक सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तक साहित्यिक रुचियों में एक नयी लहर उत्पन्न हुई, जिसके कारण कल्पना को प्रमुखता प्रदान करने की प्रवृत्ति धीरे-धीरे सशक्त रूप में उभड़ने लगी। यद्यपि रोमांटिक (Romantic) का तात्पर्य भद्दापन एवं कुरूपताओं के लिये स्वीकार किया जाता रहा, किन्तु उसके केन्द्र बिन्दु को आकर्षण मानने के कारण यह प्रवृत्ति कल्पना के लिये अत्यन्त ही उपयोगी निकली।

अठारहवीं शताब्दी में यह दृष्टिकोण थोड़े अन्तर के साथ इंगलैण्ड, फ्रांस और जर्मनी में स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ने लगा। अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में इस विचारधारा का सूत्रपात इंगलैण्ड में हुआ किन्तु इसका स्वरूप आगे चलकर शताब्दी के मध्य में जाकर ही निर्धारित हो सका। इस समय रीतिवाद अथवा शास्त्रवाद और स्वच्छन्दतावाद को दो पर्यायवाची शब्दों के रूप में भी ग्रहण किया गया है। उसी समय जर्मनी में 'लोहाट' (Lohat) नामक एक स्वच्छन्दतावादी सम्प्रदाय था, जो कविता के नवजागरण के अतिरिक्त और कुछ नहीं था, बल्कि हम उसे कविता के नवीन जागरण की प्रवृत्ति कह सकते हैं। 'एडिसन' के अनुसार तो 'यह ऐसा विचित्र दृश्य है कि इसने ही सम्भवतः काल्पनिक वस्तुओं को अवसर प्रदान किया है'।[2]

'ग्रे' ने बढ़ाकर इसका अर्थ यह किया है कि यह उनमें से एक है जो अत्यन्त ऐश्वर्ययुक्त, अत्यन्त विचित्र तथा अति चमत्कारिक दृश्य हैं जिन्हें मैंने अबतक नहीं देखा है। इसके अतिरिक्त एक अन्य आलोचक का कथन है कि जब रात्रि का गम्भीर प्रभाव अद्भुत दृश्यों को आच्छादित कर लेता है तो सर्वत्र स्थिरता, शान्ति तथा सन्नाटा छा जाता है।

1. "That is not fancyism as, he wondered long, but stopped to truth and moralized his song."

2. It is so romantic that it has probably given occasions to such *chimerical* relation."

रूसो (Rousseau) ने रोमांसक्यू (Romancsque) और पिल्टर्सक्यू (Pilterosque) शब्दों का प्रयोग रोमांटिक के अभिप्राय से किया। रोमांटिक से उसका तात्पर्य काल्पनिक, अमूलक तथा मनगढ़न्त कपोल-कल्पना से है अथवा रोमांसक्यू से अधिक। और 'पिल्टर्सक्यू' का प्रयोग ऐसे दृश्यों के लिये किया जाता था जो आँखों को चमत्कृत कर दे तथा जिसे देखकर बरबस प्रशंसा के भाव उमड़ पड़े। रोमांटिक का अर्थ एक मात्र अद्भुत दृश्यों से ही नहीं है बल्कि इसका तात्पर्य उस विशिष्ट भाव (Emotion) से भी है जो उस व्यक्ति के मन में उठते हैं, जिस पर वह मनन-चिन्तन करता है। इस प्रकार रोमांटिक शब्द एक भावात्मक विशेषता रखने वाला शब्द है, जो अत्यन्त ही रोचक, चितरंजक, मन-भावन, मोहक तथा उत्तेजक है।

आलोचना के शब्द भाण्डार में रोमांटिक शब्द के स्थान पर गोथिक (Gothic) नामक शब्द का प्रयोग किया जाता रहा। इस प्रकार इसका प्रवेश गोथिक शब्द के द्वारा रोक दिया गया था। इसके अतिरिक्त गोथिक शब्द रीतिवाद अथवा शास्त्रीयवाद (Classical) के विरोधी अर्थों में भी प्रयुक्त होता रहा है। 'गेटे' के अनुसार "रोमांटिक" तथा "क्लैसिकल" काव्य के अन्तर और साम्य को लेकर चलने वाली विचार धारा सम्पूर्ण संसार में व्याप्त हो चुकी है। कभी-कभी ऐसे अवसर भी आ जाते हैं जब कि दो पक्षों में चलने वाला विवाद संघर्ष और झगड़े की सीमा तक उतर आता है। पारस्परिक मतभेद का हो जाना तो स्वाभाविक है, जो साधारण बात हो चली है। मूलतः "स्किलर" (Schiller) और 'गेटे' के विचारों में यह स्थिति विशेष रूप से पाई जाती है। 'गेटे' के अनुसार कविता की अभिव्यक्ति अधिक से अधिक वस्तु परक होनी चाहिये; उसे मूर्त पदार्थों को छोड़कर अमूर्त का कभी भी अनुकरण नहीं करना चाहिए। परन्तु "स्किलर" के विचार इससे बिल्कुल विपरीत हैं। उसने अपनी दृष्टि से जिस प्रकार सोचा उसका पूर्ण प्रचार एवं विस्तार भी किया जिससे स्वच्छन्दतावाद और रीतिवाद को लेकर चलने वाली विचार धारायें सम्पूर्ण विश्व में प्रसारित हो गईं। प्रत्येक व्यक्ति इन विवादों में आज रुचि दिखाता है, जब कि आज से पचास वर्ष पूर्व किसी ने इसके सम्बन्ध में सोचा तक भी नहीं था।

जर्मनी से यह विचारधारा लौटकर फ्रांस आयी, जिसका श्रेय मेडम 'डीशेल' को है। विक्टरह्यूगो (Victor Hugo) का कथन है कि वह पहली लेखिका है जिसने फ्रांस के साहित्य में रोमांटिक साहित्य की अभिव्यक्ति को स्थानदिया। अँग्रेजों की भाँति जर्मन और फ्रेञ्च लेखकों तथा कवियों में इसके सम्बन्ध

में उतनी अराजकता नहीं थी बल्कि उनके विचार नियमबद्ध थे और उनमें यथार्थता थी। इंगलैंड में आकर इसके साथ नियम के कोई बन्धन नहीं रहने पाये, सब टूट गये और वह यथार्थता से दूर की वस्तु समझी जाने लगी, यानी वह काल्पनिक हो गयी। इसकी कोई निश्चित विचारधारा नहीं रहने पाई और न तो यहाँ के लोगों ने इस इस शब्द को अधिक व्यापक बनाने की चेष्टा ही की जिससे कि इससे सम्बन्धित सम्भावित सभी साहित्यिक प्रसंग इसके अन्दर ही आत्मसात हो जायँ। इस प्रकार हम देखते हैं कि इंगलैंड में रोमांटिक शब्द की एक निश्चित तर्कपूर्ण परिभाषा नहीं बन पाई, जैसा कि फ्रांस के ब्रुनेटियर (Brunetiere) ने लक्षित किया था और न तो अँग्रेजी आलोचना ने इसकी विस्तृत व्याख्या ही की कि जिससे इसके आस-पास एक सिद्धान्त निर्मित हो जाता। जर्मन विद्वानों ने ऐसा करने का प्रयत्न किया है, जैसा कि हम 'फ्रिजस्ट्रिच (Fritgstrich)' की कृतियों में देख सकते हैं। उसके अनुसार 'रीतिवाद मनुष्य की पूर्णता की इच्छा है और स्वच्छन्दतावाद मनुष्य की पूर्णता के लिए वह महत्वाकांक्षा है जो कभी प्राप्त न हो।'[1]

उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में अँग्रेजी कवियों में एक अद्भुत उन्मुक्त भावधारा प्रबल होकर प्रकट हुई जिसे रोमांटिसिज्म के नाम से अभिहित किया गया। इसी भावधारा को हिन्दी में स्वच्छन्दवाद अथवा स्वच्छन्दतावाद कहा गया है। अट्ठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में रोमांटिक शब्द के प्रति वर्डस्वर्थ के विचार थे कि यह शब्द अनावश्यक, आधिक्य और अवांछित भावों का सूचक है। उसने अपनी कविता को स्वच्छन्दतावाद के भीतर नहीं माना है। सम्भवतः उन्हें यह स्वीकार करने में इस प्रकार की कोई आपत्ति न होती।क उन्होंने जो कवितायें लिखी हैं, उनमें स्वच्छन्दतावाद के विरुद्ध उनके मन में हुई प्रतिक्रिया के भाव ही निहित हैं। 'शेली' ने अपनी समस्त रचनाओं के अन्दर केवल एक बार रोमांस शब्द का प्रयोग किया है।[2]'

स्वच्छन्दतावाद का पुनरुद्धार

इस प्रकार हम देखते हैं कि किस प्रकार वर्डस्वर्थ के मन में हुई प्रतिक्रिया के कारण स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन में एक गतिरोध सा आ गया। इसके अतिरिक्त इसके उद्धारकाल में साहित्य में एक ऐसी विचारधारा चल

---

1. "Classicism is man's desire for completion and romanticism is man's longing for perfection never to be attained.

2. "Oh ! antique verse and high romance"—Shelley

पड़ी थी जिसका नाम था (Romantic movement) स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन। इस शब्द का मूल्य इसके पुनरुद्धार काल में (Romantic revival) सबसे अधिक युक्तिसंगत रूप में 'जोहुफास्टर' (Johufoster) द्वारा उसके एक प्रबन्ध (On the application of the epethet romantic) रोमांटिक प्रयोग की विशेषता में आँका गया था। इसका प्रकाशन सर्वप्रथम १८०८ ई० और संशोधन १८२३ ई० में हुआ था। परन्तु इसकी व्याख्या जिस दृष्टिकोण से प्रस्तुत की गयी है उसके भीतर तत्कालीन समसामयिक साहित्यिक प्रयोग, जो कि स्वच्छन्दतावाद को लक्ष्य करके लिखे जा रहे थे, नहीं लाये जा सकते; यद्यपि वह प्रसिद्ध कवि 'कालरिज' और उसके समर्थकों का मित्र था। 'कालरिज' के अनुसार तो 'रोमांस के लेखकों ने कल्पना के प्रभुत्व का निर्णय पर मुलम्मा किया है।'

अँग्रेजी काव्य-साहित्य में मुख्यतः सात ऐसे युग हैं जिनमें अँग्रेज जाति की भिन्न-भिन्न परिस्थितियों ने उन्हें भिन्न-भिन्न ढंग से सोचने के लिये बाध्य किया है तथा उनकी मनःस्थिति को परिवर्तित किया है। इन्हीं सातों युगों में दूसरे युग को रोमांस युग कहते हैं जिसके विकास और विस्तार की विस्तृत ऐतिहासिक व्याख्या ऊपर कर दी गयी है।

'ग्रियर्सन' का कथन है कि 'मेरे विचार से रोमांटिक शब्द जिसे हम इन महान् साहित्यिक युगों तथा महान कवियों के लिये प्रयुक्त करते रहे हैं, की मुख्य विशेषता यही है कि वह हृदय, कल्पना तथा प्रत्यक्ष दिखाई देने वाली वस्तुओं के भेद को स्पष्ट करते हुए अनुसरण के लिये तर्कसंगत मार्ग का निर्देश करे, किन्तु ऐसा तर्क नहीं जिसने तत्वों की खोज की है, बल्कि ऐसे सामाजिक तर्क जिसमें मनुष्य रहता है तथा ऐसे तर्क जो अनुमान पर आधारित हैं, ऐसे नहीं जो विश्वास को एक निश्चित स्वरूप दे सके हैं। एक महान रोमांटिक यही समझता है कि वह विश्वास पर ही जी रहा है, तर्क पर नहीं।'[1]

उसके अनुसार रोमांटिक एक आन्दोलन है जो एक दृष्टि से दार्शनिक और आध्यात्मिक आन्दोलन भी है, जिसने प्राचीन रूपों को अस्वीकार कर

1. "I think the real essence of the word romantic as we apply it to the literature of these great periods and great poets this conscious contrast of what heart and the imagination envisage and beckon us to follow and reason not the scientific reason which has thought out the matter and attained conviction but reason in the sense of the society in which a man lives deems reasonable."— Grierson.

दिया और जो नवीन प्रयोगों में अपनी विशेष रुचि रखता है। जहाँ तक भाषा और मात्रा का प्रश्न है, यह उन सभी शास्त्रीय पद्धतियों का, जिसमें एक निश्चित विश्वस्त रूप, स्पष्टता, संतुलित भावना, पूर्व निर्मित नियम जो अपनी ही ओर देखते हैं, होते हैं, का तिरस्कार करता है। यह नवीनतम, अद्भुत, विचित्र सौन्दर्ययुक्त विचारों, दृष्टिकोणों तथा लय की अभिव्यक्ति करता है। नपी-तुली पिटी-पिटाई लकीरों पर चलना इसे स्वीकार नहीं और न शास्त्रीय सिकिंजों में विश्राम करना ही इसे पसन्द है। इसके अन्दर हमें भाषा के प्रयोग में वृद्धि, किन्तु प्रयोग में प्रतीकात्मकता न कि एक निश्चितता, रंगीनियों से भरी हुई जिन्दादिली, उद्देश्यों से पूर्ण किन्तु स्पष्ट जिससे अर्थों की पूर्ण रूपेण व्याख्या की जा सके पर कविता की लयता में भावों के शसक्त प्रवाह को व्यक्त करने के लिये उपयुक्त विस्तार की क्षमता मिलेगी; जिससे आन्तरिक विचारों एवं अनुभूतियों की वास्तविक अनुभूति हो सके।

स्वच्छन्द काव्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

आधुनिक हिन्दी साहित्य के अन्दर नवीन विचार धाराओं की दिशा में जितने भी विकास हुये हैं उन पर यदि पाश्चात्य साहित्य का पूर्ण रूपेण प्रभाव नहीं है तो उनके विकास में उसका महत्वपूर्ण योग अवश्य है। भारत में अँग्रेजी राज्य के कारण देश की राष्ट्रीयता तथा संस्कृति को जितनी क्षति पहुँची है उससे कम वह उसके माध्यम से नवीन सभ्यता के वरदान विज्ञान के निकट आकर लाभान्वित नहीं हुआ है। विदेशी सत्ता यदि एक ओर भारत के लिये अभिशाप रही है, तो दूसरी ओर अवश्य ही वह वरदान सिद्ध हुई है। अनजाने अँग्रेजों ने बहुत से ऐसे कार्य कर डाले जिसके कारण पददलित भारतीय जनता में जागरण लाने का महत् कार्य अपने आप हो गया। भारत में शिक्षित मध्यवर्ग के उदय का कारण अँग्रेजी राज्य की सत्ता ही है। अँग्रेजी राज्य को दृढ़ करने एवं आफ़िसों में कार्य करने वाले बाबुओं को तैयार करने के लिये खोले गये स्कूल और कालेजों ने भारतीयों को पाश्चात्य साहित्य के सम्पर्क में लाया, जिससे उनकी आँखों के सामने फ्रांस की राज्यक्रांति तथा इंग्लैण्ड का नवीन जागरण-युग अत्यन्त स्पष्ट होकर नाचने लगा। लोगों ने स्वच्छन्दवादी साहित्य का अध्ययन किया, वर्डस्वर्थ आदि जैसे स्वतन्त्र विचारकों की रचनायें पढ़ी जिसमें उन्हें अपनी हेयता का धीरे-धीरे ज्ञान होने लगा। भारतवर्ष का यह मध्य-वर्ग सबसे चिन्त्यवर्ग है किन्तु किसी भी देश का कोई भी आन्दोलन चलाने का श्रेय इसी वर्ग को होता है और यहाँ का भी रहा। सबसे पहले इसने ही

पश्चिम के नवीन प्रकाश को ग्रहण किया और तत्पश्चात् इसके माध्यम से आलोक की यह किरण भारतीय साहित्य के प्रांगणों में जागरण की ज्योति जगाने लगी।

हिन्दी साहित्य के अन्दर स्वतन्त्र भावना के विकास का प्रारम्भ सन् १८७० के आस-पास हुआ। इस परिवर्तन की प्रक्रिया को क्रमिक विकास की दृष्टि से तीन चरणों में विभाजित कर सकते हैं—(१) इसका प्रारम्भ भारतेन्दु काल में हुआ, (२) इसके विकास में पं० श्रीधर पाठक ने महान योग प्रदान किया और (३) महावीर प्रसाद जी द्विवेदी तक आते-आते इसका व्यापक प्रसार हो गया। भारतेन्दुकालीन कविता में ही भारतीय जन-समाज का क्षीण निश्वास-प्रश्वास सुनाई देने लग गया था, परन्तु उस युग का कवि समाज की दीन-हीन दशा पर केवल क्षुब्ध था, करुणा के आँसू गिराता तथा आर्तवाणी में अपनी असमर्थता प्रकट करता था, उसके अन्दर वह स्तर अथवा साहस नहीं आ सका था कि वह अपनी तत्कालीन जकडने वाली शृंखलाओं को तोड़कर समाज को मुक्त करने का सन्देश देता।

इसमें सन्देह नहीं, कि आधुनिक हिन्दी साहित्य को सर्वप्रथम मार्ग भारतेन्दु जी ने ही दिखाया। यदि आचार्य पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी को प्रधान पोषक मान लें तो भारतेन्दु जी अवश्य ही उसके जन्मदाता थे। काव्य—क्षेत्र में द्विवेदी जी ने ही आधुनिक कविता के स्वरूप को प्रतिष्ठित किया। इन्होंने जिस साहित्य को प्रेरणा-प्रदान की है वह उपदेशगर्भित तथा सुधारवादी था। भारतेन्दु जी ने जनता को उसकी दुर्बलताओं एवं विशेषताओं से परिचित कराया जिसमे उसने संगठन के जर्जर बन्धन एवं रूढ़िग्रस्त विवशताओं को भली-भाँति पहचाना। इस समय लोक-कल्याण एवं सुधारवादी भावनाओं का स्वप्न प्रधान होने लग गया था। इसके साथ-साथ राष्ट्रीयता के भाव को प्रबल भूमिका तैयार होती जा रही थी, जनता के अन्दर अन्धरूढ़ियो एवं मिथ्या विश्वासों के प्रति विरोधी उग्र भाव उत्पन्न होने लग गये थे जिससे उसमें अनास्था के भाव जागते जा रहे थे। इस युग में प्राचीन गौरव की दुहाई अवश्य थी किन्तु सबके मूल में वर्तमान दम घुटा देने वाली प्रस्तुत व्यवस्था का तिरस्कार था। रीतिकालीन शृंगार के विरुद्ध उठी हुई तिरस्कार की भावना ने साहित्यिकों के चेतन मन का इस प्रकार आच्छन्न कर लिया था कि वे इसका ध्यान आते ही सहम पड़ते थे।

इसी समय राष्ट्रीयता एवं समाज सुधार की भावना से प्रेरित हो देश के अन्दर अनेक समाज सुधारक संस्थाएँ तत्परता के साथ प्रचार कार्य कर रही थीं जिनमें बंगदेश सबसे आगे था, इसका मुख्य कारण यही था कि देश के

अन्य भागों की अपेक्षा वह अँग्रेजों और उनकी सभ्यता के सम्पर्क में सबसे पहले आया। अँग्रेजों के सम्पर्क में आने के पश्चात् हिन्दू समाज के पढ़े-लिखे लोगों ने उन समस्त नाना कुरीतियों एवं बुराइयों को पहचाना जो दीर्घ काल से समाज की जड़ें काट रही थीं। समाज का मस्तिष्क जिसका निर्माण पाश्चात्य शिक्षा-लोक में हुआ था, उसके परिष्कार के लिए प्रयत्नशील हो उठा। देश की परतन्त्र जनता का शोषण और समाज की हीन एवं पतितावस्था से देश के विवेकशील मस्तिष्क विक्षुब्ध हो उठे। पर साथ ही उन्हें यह ज्ञात था कि लम्बी निद्रा से जगाने का श्रेय भी अँग्रेजों को ही है उनके नाना ज्ञान विज्ञानों से ही हमें विवेक बुद्धि का ऐसा आलोक मिल सका जिसके द्वारा हम अपनी वास्तविक स्थिति की परीक्षा करते हुए अपनी दुर्बलतों से पूर्णतया परिचय प्राप्त कर सके हैं, और उनके सुधार में तत्पर हुए हैं।

'अँग्रेजों के राज्य स्थापन की विधि भी ऐसी नीति-पूर्ण रही कि आरम्भ में वे हमारे हृदय में क्रूर और आक्रमण के रूप मे नहीं अंकित हुए बल्कि मुसलमानों की क्रूर एवं अव्यवस्थित शासन-प्रणाली के विरुद्ध प्रारम्भ मे हमने अँग्रेजी शासन को एक आशीर्वाद समझा।'[1] भारतेन्दु हरिश्चन्द ने 'परदा' शीर्षक लेख में लिखा था कि 'हम लोगों को चाहिये कि सब के सब एक स्वर होकर अँग्रेज बहादुर का गुणानुवाद करे कि जिसकी शिक्षा से हमको साहस हुआ कि अपने देश की प्राचीन और बुरी रीतियों को त्याग करने में श्रम करते हैं'[2] इसमें सन्देह नहीं कि इस काल के कवियों ने समाज का यथार्थ दिखाने में बड़ा निर्मम और आदर्श की ओर इंगित करने में सतर्क तथा जागरूक दृष्टिकोण अपनाया है। सामान्य मानव के जीवन और अनुभूतियों का चित्रण पहली बार इस काल के कवियों ने किया है। नवीन ज्ञान के विकास में आधुनिक विज्ञान का भी महत्व पूर्ण योग है।

वस्तुतः पाश्चात्य वैज्ञानिक-बुद्धिवाद का ही यह फल था कि हम लोगों का विवेक इतना सजग हो पाया जिसके कारण अज्ञानान्धकार के स्थान पर समाज सुधार की भावना प्रबल हुई। उन्नीसवीं शताब्दी में विज्ञान ने मानव जीवन के ही नहीं बल्कि प्रगति के नाना क्षेत्रों में क्रांतिकारी परिवर्तन उपस्थित किया। जितनी भी प्राचीन मान्यतायें शुद्ध कल्पना एवं रूढ़ि के बल पर टिकी थीं उन पर से लोगों का विश्वास डिगने लगा और मानव समाज ऐसे स्थल पर आकर

१—डॉ० शितिकण्ठ मिश्र, 'खड़ी बोली का आन्दोलन,' पृ० २६९।

२—हरिश्चन्द्र, 'परदा', 'कवि वचनसुधा', सम्वत् १९२७।

खड़ा हो गया जहाँ से वह किसी भी वस्तु को केवल इसलिये ही मानने को तैयार नहीं था कि वह हमारे लिए मान्य एवं अनुकरणीय है क्योंकि वेदों द्वारा उसे मान्यता प्राप्त है। किसी भी वस्तु को स्वीकार करने के पूर्व मानव-समाज उसकी सम्भावनाओं और उपयोगिताओं की ओर देखने लगा, जिससे यहाँ पर आकर मानव जीवन के पुराने नियमों आदर्शों तथा मान्यताओं में आमूल परिवर्तन ही नहीं हुआ बल्कि उसके प्रतिकूल समाज में प्रतिक्रियात्मक उग्र विरोधी भाव भी उत्पन्न हो गये, जिससे समस्त रूढ़ियों एवं अन्ध परम्पराओं का जीवन के सभी क्षेत्रों में तिरस्कार किया गया, वह चाहे साहित्य हो अथवा सामाजिक व्यवस्था।

यह ऐसा काल था जब कि देश के अन्दर राष्ट्रीय जागरण की लहर एक छोर से दूसरे छोर तक प्रवाहित हो रही थी। समाज के प्रत्येक क्षेत्र में सुधारवादी आन्दोलन चलाने की चेष्टा की जा रही थी। सुधारक के लिए स्वच्छन्दतावादी होना तो नितान्त आवश्यक ही है क्योंकि रूढ़िवाद या परम्परावादी किसी नवीनता का चाहे वह आवश्यक हो या अनावश्यक, स्वागत ही नहीं कर सकता। साथ ही उसे वास्तववादी और आदर्शवादी होना भी आवश्यक है। स्वच्छन्दतावाद ही एक ऐसी प्रवृत्ति है जो नवीनता को जन्म देकर उसे आगे बढ़ा सकती है। समाज सुधार के साथ-साथ देश के सामने जो सबसे बड़ी समस्या थी, वह थी स्वतन्त्रता को प्राप्त करने की। जब सारे देश के अन्दर परतन्त्रता की बेड़ी को तोड़ कर स्वतन्त्रता के मुक्त आकाश में स्वांस लेने की बात चल रही हो ऐसी स्थिति में उस देश का कवि, जो युग और समाज का स्रष्टा और द्रष्टा है यदि परिस्थिति से मुख मोड़कर प्रेम और विरह के गान गाये अथवा नायिका की भाव-भंगियों में खोकर 'कला-कला के लिये' के सिद्धान्त को अपना कर अश्लील एवं कुरुचि पूर्ण साहित्य की सृष्टि करे तो वह अशोभन ही नहीं साहित्य और समाज के लिये अभिशाप भी है। कोई भी साहित्य अधिक दिनों तक सामाजिक भावनाओं की अपेक्षा करके जी नहीं सकता, साहित्य से समाज और समाज से साहित्य के प्रभावित होने का शाश्वत क्रम सृष्टि की ऐतिहासिक चिरन्तन प्रवहमान धारा है, इसलिये तत्कालीन कवियों के लिये यह आवश्यक था कि समाज के अन्दर जो स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन की प्रबल माँग बढ़ रही थी उसके साथ अपने कण्ठ-स्वर मिलाता है।

राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व जब महात्मा गाँधी के हाथ आया उसके पूर्व ही साहित्य का सामाजिक तथा राष्ट्रीय मूल्य तो आँका जा चुका था किन्तु एक व्यवस्थित क्रान्ति का रूप तो वह इनके प्रवेश से ही पा सका। सामाजिक

कवियों में सर्व प्रथम पं० श्रीधर पाठक और रायदेवी प्रसाद 'पूर्ण' ने अपनी सौम्य और उदात्त वाणी में समाज की दुर्बलताओं को चित्रित किया। हिन्दी साहित्य के अन्दर हमें सर्व प्रथम स्वच्छन्दवादी प्रवृत्ति का उदय पं० श्रीधर जी पाठक की कविताओं में ही प्राप्त होता है। 'हरिश्चन्द्र के सहयोगियों में काव्य धारा को नए-नए विषयों की ओर मोड़ने की प्रवृत्ति तो दिखाई पड़ी, पर भाषा ब्रज ही रहने दी गई और पद्य के ढाँचों, अभिव्यञ्जना के ढंग तथा प्रकृति के स्वरूप निरीक्षण आदि में स्वच्छन्दता के दर्शन न हुए। इस प्रकार की स्वच्छन्दता का आभास पहले पहल पं० श्रीधर पाठक ने ही दिया। उन्होंने प्रकृति के रूढ़िबद्ध रूपों तक ही न रहकर अपनी आँखों से भी उसके रूपों को देखा। 'गुनवंत हेमंत' में वे गाँवों में उपजने वाली मूली-मटर ऐसी वस्तुओं को भी प्रेम से सामने लाये जो परम्परागत ऋतु-वर्णनों के भीतर नहीं दिखाई पड़ती थीं[1]।' पं० श्रीधर पाठक ने जिस स्वच्छन्दतावाद का प्रवर्तन किया उसने वस्तुगत, शैलीगत तथा छन्द सम्बन्धी सभी परम्परित नियमों की उपेक्षा की। उन्होंने खड़ी बोली पद्य के लिये सुन्दर लय और चढ़ाव उतार के कई नये ढाँचे भी निकाले। अन्त्यानुप्रास-रहित बेठिकाने समाप्त होने वाले गद्य के से लम्बे वाक्यों के छन्द भी (जैसे अँग्रेजी में होते हैं) इन्होंने लिखे हैं। अटन का यह छन्द देखिये—

बिजन बन प्रान्त था, प्रकृति मुख शान्त था।
अटन का समय था, तरणि का उदय था॥
प्रसव के काल की लालिमा में लसा।
बाल-शशि व्योम की ओर था आ रहा॥

साहित्य की यह स्वच्छन्द धारा अप्रतिहत वेग से आगे प्रवाहित नहीं हो पाई क्योंकि बीच में ही पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी से प्रभावित साहित्यिक युग धारा व्यवधान के रूप में आकर उपस्थित हो गयी। द्विवेदी जी ने अपनी अधिक से अधिक शक्ति परिष्कार में ही व्यय की, यद्यपि उनके शिष्यों द्वारा जो काव्य की धारा निकली उसके मूल में भी स्वच्छन्दतावादी धारा कार्य कर रही थी। मैथिलीशरण गुप्त तथा रामचरित उपाध्याय आदि ने धार्मिक तथा सामाजिक परम्पराओं को पोषित करने के लक्ष्य से जो काव्य रचना की उन्हें छोड़कर जितनी रचनायें राष्ट्रीय भावनाओं से प्रेरित होकर की गयी हैं उनके अन्दर महत्वाकांक्षा तथा स्वर्ण-युग के निर्माण की प्रबल कामना ही निहित है।

---

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल-हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० ६०३

यही कामना तथा वर्तमान परिस्थितियों को बदल देने की भावना ही स्वच्छन्दतावादी साहित्य की मूल प्रेरणा है। गुप्त जी ने कुछ स्थल पर प्रकृति को आलम्बन रूप में जो चित्रित किया है वह न तो किसी ऋतु वर्णन के भीतर आता है और न तो किसी शास्त्रीय विधान के ही। कवि का मन जिन स्थलों पर प्रकृति की रमणीयता की ओर आकृष्ट हुआ है उसका उसने चित्र उतारा है।

'चारुचन्द्र की चञ्चल किरणें।
खेल रही थीं जल थल में॥
स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई थी।
अवनि और अम्बर तल में॥'
पुलक प्रकट करती थी धरती।
हरित तृणों की नोकों से॥
मानों तरु भी झूम रहे थे।
मन्द पवन के झोंको से॥

(पंचवटी से)

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वच्छन्दवादी विचार धारा एक शास्त्रीय रूप में तो नहीं किन्तु आंशिक रूप में द्विवेदी युगीन साहित्यकारों को भी प्रभावित कर रही थी। पं० रामनरेश जी त्रिपाठी के अन्दर आकर हमें पुनः स्वच्छन्दवादी प्रवृत्ति के दर्शन स्पष्ट रूप से होने लगते हैं। त्रिपाठी जी अपनी रचनाओं के द्वारा हमें स्वच्छन्दतावाद के प्रकृत पथ पर दिखाई पड़ने लग जाते हैं।

सिंधु-विहंग तरंग-पंख को फड़का कर प्रतिक्षण में,
है निमग्न नित भूमि-अंड के सेवन में रक्षण में॥

(पथिक)

द्विवेदी युग में ही 'प्रसाद' जी जैसी प्रतिभायें विद्यमान थीं जिन्होंने उनके प्रभुत्व को अस्वीकार कर 'छायावाद' के नाम से एक अलग शैली का निर्माण किया। हमने इसकी पूर्व में ही चर्चा कर दी है कि 'छायावाद' स्वच्छन्दतावाद से कोई अलग साहित्यिक विचार धारा नहीं है बल्कि उसके अन्दर अन्तर्निहित एक विशिष्ट शैली मात्र है। प्रसाद जी की कविताओं का स्वतन्त्र रूप से विकास हुआ है और यहाँ तक कि उन्होंने अपने अमर महाकाव्य 'कामायनी' तक में भी महाकाव्य के शास्त्रीय नियमों का पालन नहीं किया है। 'निराला' जी ने तो काव्य के समस्त वाह्य नियमों का विरोध किया ही है इसीलिये उन्हें हिन्दी

के विद्रोही कवि के नाम से पुकारा जाता है। ये हिन्दी कविता में वाह्य कला की स्वच्छन्दता के सूत्रधार हैं। 'पंत जी' ने प्रकृति को अपनी रुचि के अनुसार देखा है और महादेवी जी तो उसे अपनी भावनाओं के साथ-साथ चलती पाती हैं। जिस प्रकार प्रबन्ध काव्य और महाकाव्य का साहित्य मुक्तक और प्रगीतों मे आ गया उसी प्रकार स्वच्छन्दवादी विचार धारा भी साहित्य के अनेक रूप मे अभिव्यक्ति पाने लगी है जिसे कभी-कभी पहचानना कठिन हो जाता है। आज दिन काव्य के स्वरूपों में जो अव्यवस्था व्याप्त है उसके मूल में एक मात्र स्वच्छन्दवादी प्रवृत्ति ही है।

रोमांस और कल्पना

स्वच्छन्दतावादी, भावपरक तथा महत्वाकांक्षा से पूर्ण और वैयक्तिक अनुभूतियों से व्यंजित जो कविता होती है उसका आधार-विन्दु कल्पना है। कल्पना के ही आधार तथा माध्यम से रोमांटिक काव्य की अभिव्यक्ति होती है।'प्लेटो' के शब्दों में 'काव्य के स्थिर नियमों, एकता और व्यवस्था में अनेकरूपता तथा अव्यवस्था का प्रवेश मस्तिष्क की जिस आन्तरिक शक्ति द्वारा होता है उसे कल्पना कहते हैं।'[1]

कला और नीति के सम्बन्ध में 'प्लेटो' ने अपने जो विचार व्यक्त किये हैं यदि उनका अध्ययन करे तो स्पष्ट हो जायगा कि काव्य किस प्रकार किसी वस्तु की वास्तविक वस्तुस्थिति को पाठकों के सामने रख देता है, जिसको अपनाना और अस्वीकार कर देना उसका काम है। कला और नीति के सम्बन्ध में युगों से प्रतिवाद चला आ रहा है जिससे आज हम यह जानते हैं, और हमारे लिये जानना आवश्यक है कि कला और नीति में परस्पर कोई मूल विरोध नहीं है, यदि अन्तर है तो केवल उनके लक्ष्य में। नीति का कार्य है उपदेश देना, परन्तु कला उपदेश देने का प्रयत्न नहीं करती। नीति यह दृढ़ता पूर्वक स्वीकार करती है कि मानव-जीवन कैसा होना चाहिये और कैसा नहीं तथा आदर्श जीवन की क्या रूपरेखा है, परन्तु कलाकार का कथन है कि थोड़े में सत्य तो यह है कि मेरा कार्य यही है कि मैं किसी भी वस्तु का मूल्यांकन उसी प्रकार कर दूँ जैसी कि वह है, उसे यदि आप चाहें तो ग्रहण

---

1. In the Plato's language is changing manifold and deor-derd--a permanence, anunity and order introduced into it by that faculty of the mind which we call imagination, (Plato) (R. A. Scott James, The making of literature).

करें अथवा त्याग दें तथा आप उनसे किसी भी प्रकार की शिक्षा ले सकते हैं जैसा चाहें। यदि वे प्रमाण रूप में आपके लिये कुछ मूल्य रखती हैं अथवा शिक्षा-प्रद हैं तो उनका प्रयोग कीजिये. परन्तु ऐसा करने के लिये बाध्य करना मेरा कार्य नहीं है। मैंने अपनी रचना आपके सामने प्रस्तुत कर दी। अपना मूल्य, अपनी दृष्टि, अपनी कल्पना, अपना स्वप्न और अपनी माया प्रस्तुत कर दी; आप उसे जिस नाम से चाहे पुकार लें यदि उनमें कोई शिक्षा है तो उनको प्राप्त करना आपका कर्तव्य है न कि मेरा साहित्य के क्षेत्र पर यदि व्यापक दृष्टि से विचार किया जाय तो नीति भी साहित्य की सीमा के अन्दर आ जाती है क्योंकि बहुत से ऐसे नीति काव्य हैं जिन्हें साहित्य की अमूल्य निधि मानते हैं। किन्तु नीति की अपेक्षा साहित्य कला के अधिक निकट है जैसा कि आधुनिक विद्वानों का मत है। रोमांटिक काव्य तो कला के इतने निकट है कि कहीं-कहीं दोनों समानान्तर होकर चलने लग जाते हैं। कला के माध्यम से जो रचना प्रस्तुत की जाती है यदि वह वस्तुपरक अथवा वाह्य संसार का चित्र है तो कलाकार का कार्य अपेक्षाकृत अत्यन्त सरल है क्योंकि वह इस प्रकार अपने कार्य की आधी मञ्जिल पर ही पड़ाव डाल देता है। उसकी मञ्जिल तब तक पूरी नहीं हो सकती जब तक कि वह आत्मापरक तथा रहस्यमय संसार की झाँकी नहीं दिखा देता और यह तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि कवि अवथा कलाकार कल्पना का सहारा नहीं लेता।

'प्लेटो' के अनुसार कलाकार का सम्बन्ध केवल आकार प्रकार से ही है वह अपनी कला के द्वारा सम्भावनाओं का चित्र उतारता है अथवा यों कहें कि वह आकृति की भी आकृति से यानी प्रतिकृति से सम्बन्ध रखता है। वह ऐसे संसार का चित्रण करता है जिसे हम आँखों से देखते हैं, या कानों से सुनते हैं, ऐसे संसार का चित्रण करता है जिसमें वस्तुयें आती और विलीन हो जाती हैं, कभी छोटी दिखाई पड़ती है तो कभी महान, ऐसे संसार का चित्रण करता है जो परिवर्तनशील है, बदलता रहता है अथवा काल्पनिक है किन्तु जिसकी वह प्रतिकृति तैयार करता है यानी यथार्थ वस्तु अपरिवर्तनीय रहती है। जिस स्थान पर कला के सामने सम्भावनाओं के चित्र उतारने का प्रश्न आता है वहीं पर कलाकार या कवि के सामने कल्पना की आवश्यकता उठ खड़ी होती है। बहुत सी ऐसी सम्भावित वस्तुये हो सकती हैं जिन्हें आँखों नहीं देखा जा सकता किन्तु अनुभव करते हैं अथवा स्वप्निल अवस्था में वे कल्पना के नेत्रों के सामने मँडराती हैं जिनको कला अथवा काव्य के माध्यम से हम स्वरूप देना चाहते हैं। ऐसी स्थिति में कल्पना को छोड़कर दूसरी कोई

ऐसी वस्तु नहीं है जो हमारे व्याकुल मन की कामना पूरी कर सके।

अनेक आकृतियाँ हैं जिन्हें हम लाल रंग की वस्तुयें कहते हैं, किन्तु एक-मात्र लालिमा की भावना जो वस्तु के पीछे छिपी है, बहुत-सी आकृतियाँ ऐसी हैं जिन्हें हम सुन्दर वस्तुयें कहते हैं किन्तु सौन्दर्य की एकपूर्णता ही जिसका वास्तविक प्रभाव मस्तिष्क स्वीकार करता है, यथार्थ है। इस प्रकार एक कलाकार आकृतियों की ही अनुकृति तैयार करता है किन्तु कवि कल्पना के ही माध्यम से वास्तविकता की, जो अमूर्त है, मूर्त रूप देने का प्रयत्न करता है। कुर्सी या चारपाई जिन्हें बढ़ई तैयार करता है, एकमात्र आकृतियाँ हैं वे यथार्थ नहीं कही जा सकतीं। यथार्थ वस्तु संसार में एक होती है एक से अधिक नहीं। यदि एक से अधिक हुई तो वे पूर्व कल्पित रूप होंगे जिसके पीछे एक वास्तविक वस्तु की धारणा छिपी होगी। बढ़ई केवल वास्तविक वस्तु की नकली वस्तु ही तैयार करते हैं इसके अतिरिक्त कुछ नहीं और पेंटर जो वस्तु तैयार करता है वह नकली वस्तु की भी नकल होती है अतः उसका कार्य अनुकरण का भी अनुकरण करना है। ठीक ऐसी ही स्थिति कवि की भी होती है। यद्यपि वह रंग आदि का प्रयोग नहीं करता फिर भी पेंटर की भाँति ही वह अपनी रचना के संज्ञा. क्रिया और मात्राओं आदि का प्रयोग करता है अन्तर केवल इतना है कि पेंटर की कृतियाँ चक्षु-ग्राह्य होती हैं और कवि की कृतियाँ कर्ण-ग्राह्य। पेन्टर अपने काल्पनिक भावों को कभी-कभी चित्रों द्वारा व्यक्त करता है और कवि अभिव्यक्ति के माध्यम से। 'प्लेटो' का दृढ़ विश्वास है कि 'कवि का अनुकरण एक दुर्बल एवं अपूर्ण अनुकरण ही हो सकता है क्योंकि वह नकल की ही नकल तैयार करता है। कवि के विषय और ढंग सब जूठे होते हैं। वह अपनी भावुकता के द्वारा ही संचालित होता है तर्क के नहीं। वह हृदय की सबसे हेय भावना एवं गन्दे अंगों को ही उत्तेजित, संतुष्ट और दृढ़ करता है। वह ऐसी चित्त वृत्तियों को उकसाता है, तथा ऐसी अव्यवस्थित इन्द्रियों को उभाड़ता है कि साधारणतः हम जीवन में उनके अनुसार कार्य करने में लज्जा का अनुभव करेंगे। जहाँ तक प्लेटो यह कहता है कि कलाकार अथवा कवि की अभिव्यक्ति सत्य यानी यथार्थ से घटकर ही होती है, वह पूर्णतः सही है, किन्तु यह भी सत्य है कि वह सत्य से बढ़कर भी चित्रण करता है। वह कौन-सा अस्त्र कवि को मिल गया है कि वह नकल की भी नकल उतारते समय असल से भी श्रेष्ठतर सृष्टि कर जाता है। कवि की कल्पना ही उसका एकमात्र ऐसा साधन है जिस पर उड़ान लेकर वह अपनी अभिव्यंजनाशक्ति के माध्यम से सौन्दर्य की ऐसी अभिव्यक्ति कर जाता है जो

वास्तविकता से भी श्रेष्ठतर एवं लुभावनी होती है। वर्त्तमान से श्रेष्ठतर एवं आनन्दपूर्ण जीवन की महत्वाकांक्षा से संगठित भावाभिव्यक्ति को ही जब हम रोमांटिक काव्य की संज्ञा देते हैं तो कल्पना से विरक्त होकर ऐसा काव्य, जीवित रहने को कौन कहे, प्रादुर्भूत भी नहीं हो सकता।

कवि कल्पना के ही द्वारा अपने चित्र में भाव, अनुभव, अन्तर्ज्ञान तथा कुछ विशिष्ट आवश्यक गुणों की भी सृष्टि करता है। उसका लक्ष्य यही रहता है कि वह जीवन को उससे अधिक सुन्दरतर ढंग से सामने उपस्थित करे जैसा कि वह वास्तव में है। कल्पना का ही स्पर्शकर भाव अपने पंख पसारते हैं और जब उन्हें उपयुक्त भाषा का आकाश मिल जाता है तो वह जीवन की डाल-डाल पर गान-मुखर विहंग की भाँति फुदकने लगते हैं, पत्ते-पत्ते को राग-रंजित चंचु से चूमने लगते हैं और ठोस तिनकों के नीड़ बनाकर सुख-शयन का ही नहीं, दृश्य-अदृश्य के परे जाने वाली अनन्त वायवी तरंगों का भी मधुपान करने लगते हैं। जहाँ तक संसार की दृश्य वस्तुओं का सम्बन्ध है वे क्लैसिक काव्य की एकमात्र वर्ण्य वस्तु है किन्तु जहाँ तक अदृश्य और वायवी वस्तुओं का सम्बन्ध हैं उन्हें रोमांटिक साहित्य के द्वारा ही वर्ण्यवस्तु के रूप में स्वीकार किया गया है। जो वस्तुएँ अदृश्य एवं वायवी होती हैं वे कल्पना की आँखों द्वारा ही देखी जा सकती हैं। यदि रोमांटिक कवि अपनी कल्पना की आँखें बन्द कर लेता है तो वह पूर्णतः रोमांटिक काव्य की सृष्टि कर ही नहीं सकता और कल्पना के अभाव में वह जो करेगा, उसकी वह सृष्टि अधूरी होगी और उसके आगे बहुत कुछ करना शेष रह जायगा। "कल्पना कवि की बहुत बड़ी शक्ति है, भाव तो किसी न किसी मात्रा में सब में उठते-मिटते रहते हैं, अनुभूतियों के तार सब में यथावसर गुंजित होते हैं, किन्तु जब इन भावानुभूतियों को कल्पनास्पन्दन प्राप्त होता है, तभी अन्तश्चक्षुओं के सामने कला की परम्परा अवतरित होने लगती है। वाक् से अर्थ, अर्थ से वाक् का यही मधुमय मिलन कवि की साधना का साध्य होता है।"[1]

कवि के जीवन में आशा-निराशा सभी उसी प्रकार आती हैं जैसे एक साधारण व्यक्ति के जीवन में, क्योंकि वह भी एक सामाजिक प्राणी है। वह अपने अनुभव जीवन के विभिन्न क्षेत्रों से एकत्र करता है। जिन परिस्थितियों में वह रहता है उनके द्वारा प्राप्त अच्छे और बुरे अनुभव तथा अभावों की पीड़ा से प्रेरित होकर ही काव्य की सृष्टि करता है। जीवन में हुए पिछले

---

१ प्रो० क्षेम, रोदन की भूमिका।

अनुभवों को वह कल्पना की ही सहायता से अपने रचना-काल में सामने रख पाता है क्योंकि भोगकाल में भुक्तभोगी उसमें इस प्रकार डूबा होता है कि ममत्व एवं अहं की संकुचित सीमाओं में उसकी विशाल दृष्टि धुँधली पड़ जाती है, किन्तु भोग के पश्चात् जब कल्पना उन मधुर विषयों को पुनः अन्तश्चक्षुओं के सामने उपस्थित करती है तब वह उनसे ऊपर उठकर, तटस्थ रहकर या उनके चारों ओर घूमकर अपेक्षाकृत पूर्णतर रूप में देख पाने की स्थिति में आ जाता है और तब उसकी वाणी केवल उसके ही भूखे-प्यासे अहं के स्वरों को हिलाकर नहीं रुक जाती वरन् जन-जन के हृदय स्वरों के साथ प्रतिध्वनित हो उठती है। कवि की वाणी की यही बहुहृदयस्पर्शिता उसकी कृति की सबसे बड़ी विभूति है। जिस काव्यकृति में भावों जो जगाने एवं रमाने की क्षमता नहीं वह और चाहे जो कुछ हो कविता नहीं। काव्यकार का कार्य केवल वस्तुओं का संग्रह करना नहीं बल्कि कल्पना के द्वारा सजीवता उत्पन्न करना होता है। रोमांटिक काव्य चाहे जितने भी असंतोष, अभाव एवं क्रान्तिकारी भावों की अभिव्यक्ति क्यों न करे वह तब तक उच्चकोटि का साहित्य नहीं हो सकता जब तक कि कल्पना के माध्यम से कोई समाधान नहीं प्रस्तुत करता जो कि विश्वास को अपनी आकर्षित कर सके।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का मत है कि कल्पना कवि की अपनी प्रतिभा का परिणाम होता है अतएव वह अपने मूल रूप में व्यक्तिगत है। परन्तु कवि द्वारा सृजन किया गया कल्पना का जगत ऐसा नहीं होता कि दूसरे उसका अनुभव न कर सकें। कवि कल्पना की यह सार्वजनिकता काव्य को व्यक्तिगत परिधि से बाहर ले जाकर सब के लिये सुखकर बना देती है। काव्य यद्यपि कवि की अपनी कल्पना का परिणाम है, परन्तु उसका उत्कर्ष सार्वजनिक बन जाने में ही प्रकट होता है। रोमांटिसिज्म के आरम्भिक युग में व्यक्तिवाद की प्रमुखता हो रही थी और काव्य के भाव-जगत को सार्वजनिक वस्तु स्वीकार करने में कठिनाई हो रही थी। परन्तु 'गेटे' और 'कालरिज' जैसे कई और समीक्षकों की चेष्टा से काव्यगत अभिव्यंजना को व्यक्तिगत भूमि से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भूमि पर ले जाने में सहायता मिली। इस प्रकार अनेकमुखी उद्योगों द्वारा साहित्य में अभिव्यञ्जना सिद्धान्त की प्रतिष्ठा हुई। कल्पना के ऊपर जो वैयक्तिकता के आक्षेप आरम्भ में लगाये गये उनके लिये अधकचरे और अकुशल कवियों की लेखनी ही जिम्मेदार है न कि कल्पना।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने तो कल्पना को रोमांटिक काव्य का अभिन्न अङ्ग ही माना है। उनके अनुसार 'रोमांटिक' साहित्य की वास्तविक उत्स भूमि

वह मानसिक गठन है जिसमें कल्पना के अविरल प्रवाह से घन-संश्लिष्ट निविड-आवेग की ही प्रधानता होती है। इस प्रकार कल्पना का अविरल प्रभाव और निविड़ आवेग ये दो निरन्तर घनीभूत मानसिक वृत्तियाँ ही व्यक्तित्व प्रधान साहित्य-रूप की प्रधान जननी हैं परन्तु यह नहीं समझना चाहिये कि ये दोनों एक दूसरे से अलग रहकर काम करती हैं।'[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि रोमांटिक काव्य और कल्पना को हम एक दूसरे से अलग कर ही नहीं सकते।

प्रकृति में दो प्रकार की शक्तियाँ निरन्तर कार्य किया करती हैं, एक है विवेक और दूसरी कल्पना। विवेक का कार्य है विश्लेषण करना, वह वस्तुओं को तोड़फोड़ कर अन्तिम इकाई तक उसकी वास्तविकता का ज्ञान करना चाहता है और कल्पना यदि वस्तुओं को तोड़ती है तो उन्हें जोड़ती भी है। 'इस कल्पना के व्यापार का सच्चा और प्रकट स्वरूप कविता में दिखलाई पड़ता है। जीवन के किसी महत्तम क्षण में एक समवेदन शील प्राणी ने, जिसे कवि कहते हैं, किसी ज्योति की झलक देखी, मानो किसी आज्ञात लोक की वास्तविकता ने उसके सामने अपना दृश्य खोलकर रख दिया है। इसकी कोई विशिष्ट रूपरेखा नहीं, आकार-प्रकार नहीं, यह निर्गुण और निराकार है। कल्पना को मानो इससे सन्तोष नहीं। वह चुपके से उसके पास पहुँचती है, एक जीवनी शक्ति लेकर उसमें प्रवेश करती है और तत्सम्बन्धी भावनाओं के विविध क्षेत्रमें इसका विस्तार करती है'।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि रोमांटिक काव्य के भीतर कल्पना प्राण वायु की भाँति व्याप्त है जिसके अभाव में इसका जीना ही असम्भव है।

---

१. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, 'रोमांटिक साहित्य शास्त्र की भूमिका' (पृष्ठ २)।

२. श्री देवराज उपाध्याय रोमांटिक साहित्य शास्त्र पृ० ७८।

स्वच्छन्दता और अभिव्यञ्जनावाद

कवि अपनी अनुभूतियों एवं भावों को जब कविता के माध्यम से प्रकट करता है तो उस प्रकटीकरण के ढंग को ही साधारण भाषा में हम अभिव्यंजना कहेंगे। इस शैली गत विशेषण को सर्व प्रथम शास्त्रीय रूप प्रदान करने वाले इटली के क्रोचे महोदय हैं जिसे अभिव्यंजनावाद (Expressionism) कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी बात के कहने का ढङ्ग ही सब कुछ है। कलायें आत्मा के सौन्दर्य को अभिव्यक्त करती हैं। आत्म सौन्दर्य से सम्पन्न अभिव्यंजना ही काव्य है और अभिव्यंजना को इस सिद्धान्त क अनुसार काव्य तथा कला का लक्ष्य माना जाता है और सौन्दर्य को उसके अनिवार्य गुण के रूप में स्वीकार किया जाता है। आचार्य 'लेसिंग' के अनुसार भावाभिव्यञ्जना कला का उद्देश्य है जिसे 'विकलमैन' ने और भी आगे बढ़ाया। आचार्य 'रामचन्द्रजी शुक्ल' इसे हिन्दी में 'अपने यहाँ के पुराने वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान मानते हैं।' उनके अनुसार 'अभिव्यञ्जना के ढंग का अनूठापन ही सब कुछ है, जिस वस्तु या भाव की अभिव्यञ्जना की जाती है, । वह क्या है, कैसा है, यह सब काव्य-क्षेत्र के बाहर की बात है।' क्रोचे का कहना है कि अनूठी उक्ति को अपनी अलग सत्ता होती है, उसे किसी दूसरे कथन का पर्याय न समझना चाहिये। बात यह है कि अभिव्यंजनावाद भी 'कलावाद' की तरह काव्य का लक्ष्य बेल-बूटे की नक़ाशी वाला सौन्दर्य मान कर चला है, जिसका मार्मिकता या भावुकता से कोई सम्बन्ध नहीं। और कलाओं को छोड़ यदि हम काव्य ही को ले तो इस अभिव्यंजनावाद को 'वाग्वैचित्र्यवाद' ही कह सकते हैं और इसे 'अपने यहाँ के पुराने 'वक्रोक्तिवाद' का विलायती उत्थान मान सकते हैं।'[1] यदि इस प्रकार की व्याख्या हम अभिव्यंजनावाद की करें तो रीति सिद्धान्त को छोड़कर अभिव्यंजनावाद और कुछ नहीं है क्योंकि अभिव्यंजनावाद की भाँति रीति अथवा शास्त्रीयकाव्य की भी सारी समस्याएँ शैलीगत हैं। रीति काव्य, काव्य के बाह्य तत्व पर ही अधिक जोर देता है आन्तरिक तत्व पर नहीं। यह स्वरूप (Form) को ही काव्य का सर्वस्व मानता है आत्मा (Spirit) को नहीं। हिन्दी

---

१. आ० रामचन्द्र शुक्ल 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' पृ० ४९६।

का रीतिकालीन साहित्य हमारे सामने है, हम देख सकते हैं कि किस प्रकार उस समय के कवियों ने एक ही विषय पर अनेक ढंग की कलाबाजियाँ दिखलाई हैं।

इसके अतिरिक्त सौन्दर्य शास्त्रीय आलोचना का मूल सिद्धान्त है अभिव्यंजनावाद। अभिव्यंजनावाद का महत्व तो अपने आप में पूर्ण है, यह कोई नवीन उद्भावना नहीं है। यूनानी-रोमी आलोचकों के ग्रन्थों में इसके अनेक संकेत मिलते हैं। परवर्ती काव्यशास्त्र में 'आर्नल्ड' से पहले ही 'विक्टर ह्यूगो' इस तथ्य की घोषणा कर चुके थे कि 'काव्य में अच्छे-बुरे विषय नहीं होते, अच्छे-बुरे कवि ही होते हैं। यह देखिये कि रचना किस प्रकार की गयी है, यह नहीं कि किस पर और क्यों?

साहित्य में स्वच्छन्दवादी विचारधारा के विकास ने साहित्य के शास्त्रीय मूल्यों को आमूल परिवर्तित कर दिया और जो यह पहले विश्वास था कि हमारा समस्त ज्ञान तथा प्रतिभा एक निश्चित शास्त्रीय पद्धति पर चल कर ही अपना चमत्कार दिखा सकती है, उसके स्थान पर यह भावना प्रबल होने लगी कि ज्ञान और प्रतिभा के लिए श्रेयस्कर है कि वह अपनी सुविधा के लिए शास्त्रीय नियमों का स्वयं विधान करे तथा श्रेयस्कर यही होगा कि वस्तुयें हमारे ज्ञान के अनुकूल हों। शैली की समस्या वहाँ भी थी किन्तु शैली की समस्या वहाँ यह थी कि केवल एक ही अद्वितीय शब्द, वाक्यांश, वाक्य, अनुच्छेद, निबन्ध या गीत कुछ भी हो, उसका मन की छवि या मन के चित्र के साथ पूर्ण तादात्म हो। इस प्रकार जो पूर्व में सीमित दृष्टिकोण था कि उक्तिवैचित्र्य में चमत्कार होना आवश्यक है, भले ही मन के भावों के साथ उसका पूर्ण तादात्म न हो सके क्योंकि परम्परावादी अथवा रीतिवादी काव्यों की विशेषता थी कि काव्य का बहिरंग शास्त्र-संमत होना आवश्यक है। परन्तु स्वच्छन्दतावादी कवियों के द्वारा जब काव्य के अन्तरंग पर बल दिया जाने लगा तो अभिव्यंजना का रूप भी बदला। इन कवियों ने विषय को प्रधानता दी न कि शैली को। इन लोगों का विश्वास है कि यदि विषय हमारे पास है तो शैली अपने आप तदनुरूप आ जायेगी पहले कहने को तो कुछ हो। ऐसी कविताओं में उक्तिवैचित्र्य नहीं युग की आत्मा बोलती है जिसके पीछे कवि की वैयक्तिक अनुभूति छिपी होती है। इस प्रकार अलंकार, शाब्दिक चमत्कार तथा अन्य प्रसाधन जो अभिव्यंजना के अभिन्न अंग थे, भिन्न माने जाने लगे क्योंकि उनका पृथक अस्तित्व है और वे वास्तव में शैली का कोई उपकार नहीं करते बल्कि उनके द्वारा उसकी मूलभूत एकता ही नष्ट हो जाती है।

'शब्द का औचित्य वहीं सिद्ध होता है, जहाँ वह अर्थ के साथ तदाकार हो जाता है।'

अभिव्यंजनावाद और रीतिवाद में साम्य के स्थान पर वैषम्य अधिक है। यद्यपि दोनों ने ही उक्ति को महत्व दिया है किन्तु दोनों की आत्मा में बड़ा भेद है। साम्य केवल उक्ति को महत्व देने में है क्योंकि अभिव्यंजनावाद उक्ति के अतिरिक्त अर्थ का अस्तित्व ही नहीं मानता और रीतिवाद रीति को महत्व देता है जिसके मूल में उक्ति है। दोनों में वैषम्य इस दृष्टि से है कि रीति केवल उक्ति ही नहीं है बल्कि वह विशिष्ट पद रचना भी है और इसमें इसी पर अधिक बल दिया जाता है परन्तु अभिव्यंजनावाद उक्ति और अभिव्यंजना में भेद नहीं करता। उसका तो एक ही रूप है। वह सफल-असफल का भेद नहीं मानता क्योंकि असफल अभिव्यंजना तो अभिव्यंजना है ही नहीं। रीति का आधार रचना की विशिष्टता है जो गुणों से युक्त तथा दोषों से मुक्त होती है परन्तु अभिव्यंजनावाद गुण, अलंकार, दोष आदि को अप्रासंगिक तथा मिथ्या कल्पना मात्र मानता है। अभिव्यंजना अखण्ड है उसे गुण तथा अलंकार आदि से खण्डित नहीं किया जा सकता। उसके सौन्दर्य की पूर्णता अपने में ही है। इस प्रकार रीति के सम्पूर्ण तत्व अभिव्यंजनावाद के अनुसार व्यर्थ हो जाते हैं। रीतिवाद वस्तु परक सिद्धान्त है, अभिव्यंजनावाद शुद्ध आत्मपरक। उक्ति के स्थान पर दोनों एक रंगमंच पर से बोलते अवश्य हैं परन्तु दोनों के रास्ते दो हैं। इस प्रकार रीतिवाद और अभिव्यंजनावाद का यह वैषम्य उनके साम्य से कम मौलिक नहीं बल्कि और भी गहरा है।

जिस प्रकार अभिव्यंजनावाद शुद्ध आत्मपरक है, उसी प्रकार स्वच्छन्दतावाद भी। स्वच्छन्दतावादी कवि भी सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करना चाहता है परन्तु रीतिवादी कवि और उसमें यही भेद है कि स्वच्छन्दतावादी कवि का सौन्दर्य अधिक मानसिक है और रीतिवादी का अधिक ऐहिक। स्वच्छदतावाद इसका हामी है कि सौन्दर्य के माध्यम से भावों का वह उन्मेष जो तात्कालिक सुखानुभूति की सृष्टि करता है, काव्य है। भावों की स्थिरता कभी भी स्वीकार नहीं की जा सकती, उसके परिवर्तित होते रहने की सम्भावना अधिक है और तात्कालिक सुख का भी कोई एक निश्चित दृष्टिकोण नहीं स्वीकार किया जा सकता। ऐसी स्थिति में निश्चित शैली को एकरूपता प्रदान कर देना कठिन तो है ही, उपयुक्त भी नहीं है। यद्यपि 'क्रोचे' ने इस अभिव्यंजनावाद का समर्थन जिस ढंग से किया है वह तद्वत अभी तक हिन्दी साहित्य में आया नहीं और न सम्भव ही है क्योंकि किसी भी साहित्य एवं परम्परा के लिये अपने देश

काल की एक निश्चित सीमा होती है। ऐसी स्थिति में हमें इस परिभाषा को अत्यधिक व्यापक बनाना पड़ेगा। यदि अभिव्यंजनावाद को व्यापक दृष्टि से देखें तो इसकी सबसे अधिक अभिव्यक्ति स्वच्छन्दतावादी कवियों के द्वारा हुई है। जिन भावों तथा अनुभूतियों की अभिव्यक्ति रीतिकाल का समृद्ध साहित्य कभी भी नहीं कर सका उसे भी स्वच्छन्दतावादी कवियों ने कल्पना की सहायता से प्रस्तुत कर दिया और इसे भी हम अस्वीकार नहीं कर सकते कि अभिव्यंजना की पूर्णता ही अभिव्यंजनावाद का मूल मंत्र है जो स्वच्छन्दतावादी कवियों द्वारा सम्भव हो सका।

अभिव्यंजनावाद को स्वच्छन्दतावाद का ही एक अङ्ग या स्वरूप मानना चाहिये। इसमें संदेह नहीं कि यह इसी विचार धारा के अन्दर अन्तरभुक्त है। यों तो अभिव्यंजना को काव्य का एक स्वतन्त्र सिद्धान्त ही माना गया है जिसके अन्दर अभिव्यंजना को ही काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया जाता है। यह सिद्धान्त हिन्दी कविताओं के अन्दर स्वतंत्र रूप में नहीं आ पाया। स्वच्छन्दतावादी विचार धारा के अन्दर ही यह अपना विस्तार और प्रभाव दिखाता रहा है और कम से कम उसकी व्याख्या उसी के अन्दर करनी चाहिये। यह नितान्त रूप से पश्चिमी सिद्धान्त है और नाम भी वहीं से लिया हुआ है। अतः स्वतन्त्र रूप से उस पर विचार करने की विशेष आवश्यकता नहीं है। फिर भी इसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का ज्ञान कर लेने से भ्रान्ति का निवारण अवश्य हो जायेगा। अभिव्यंजनावाद और कलावाद (arts for arts sake) पाश्चात्य समीक्षा साहित्य में शैली को महत्व देने वाले दो प्रमुख वाद हैं। अभिव्यंजनावाद को शास्त्रीय स्वरूप देने का सर्वप्रथम श्रेय आचार्य 'क्रोचे' को है।

सत्रहवीं शताब्दी तक योरप में प्राचीन ग्रीक कला के आकर्षण का प्रभाव समाप्त हो चला था। धीरे-धीरे साहित्य-समीक्षक समसामयिक जीवन की प्रेरणा से उद्भूत कविता के मर्मों को जानने के लिये जिज्ञासु हो रहे थे। यही साहित्य का वह ऐतिहासिक विन्दु है जहाँ से समीक्षाशास्त्र में स्वच्छन्दतावाद का प्रभाव बढ़ना आरम्भ हो गया। जर्मनी में लेसिंग, विकलमैन और इङ्गलैण्ड में 'शेली, कीट्स' और वर्ड्सवर्थ जैसे विद्वान् समीक्षक और कवि नयी धारा का उन्नयन कर रहे थे। प्राचीन ग्रीक-कला का नया विश्लेषण करने वालों में 'लेसिंग' और 'विकलमैन' मुख्य आचार्य हैं। लेसिंग ने प्राचीन ग्रीक-कला की नये युग की पृष्ठभूमि पर व्याख्या की। उसका सिद्धान्त प्रायः सौन्दर्य सिद्धान्त कहा जाता है, जिसके अनुसार काव्य और कलायें आत्मा के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करती हैं, आत्मसौन्दर्य से सम्पन्न अभिव्यंजना ही काव्य है।

अभिव्यञ्जना ही काव्य तथा कला का वह लक्ष्य है जिसका अनिवार्य गुण सौंदर्य है। सौन्दर्यविहीन अभिव्यंजना निम्नकोटि की होती है। विकलमैन ने 'लेसिंग' के उपरोक्त सिद्धान्त का विस्तार के साथ स्पष्टीकरण किया तथा उसके विविध भेदों को उद्घाटित किया। आगे चलकर कान्ट ने कलात्मक प्रेरणा के वास्तविक रूप को और भी अधिक स्पष्ट किया। उसने विशुद्ध, व्यावहारिक और अनुभूतिजन्य ज्ञान की तीन श्रेणियाँ स्वीकार की और कला को इन तीनों ज्ञानों का समन्वित स्वरूप माना है। उसने कला को विशुद्ध व्यावहारिक ज्ञान के मध्य में मानकर उसमें अनुभूति नामक तत्व की स्थापना की। कान्ट की इस व्याख्या के फलस्वरूप स्वच्छन्दतावादी धारा को और भी गति मिली। परिणामस्वरूप बाहरी नियमों और आंगिक सौंदर्य को छोड़कर रचना सम्बन्धी आंतरिक प्रक्रिया और अन्तरंग नियमों का महत्व बढ़ गया। उसी समय विद्वान 'कालरिज' ने यह बड़े जोरदार शब्दों में स्वीकार किया कि सौंदर्य के माध्यम से तात्कालिक सुख के लिये भावों का उन्मेष ही साहित्य है। उसने भावोन्मेष के लिये जिस सौंदर्य को माध्यम माना है वह अभिव्यंजना का ही सौंदर्य है, कला का बाह्य या आंगिक सौन्दर्य नहीं। बाह्यजगत या वस्तुजगत का कोई भी स्थान उसकी दृष्टि में नहीं है। कवि की मानसिक प्रक्रिया के अन्तरगत ही वस्तुजगत का अस्तित्व है और उसकी मानसिक चेष्टा ही कलानिर्माण का एकमात्र आधार है। जिस मानसिक चेष्टा को वह कला का मूलाधार स्वीकार करता है वही मानसिक चेष्टा स्वच्छन्दवादी काव्य की जन्मदात्री है। मानसिक चेष्टा को अभिव्यक्त करने की प्रबल कामना ही ने तो सभी शास्त्रीय बन्धनों का तिरस्कार कर स्वच्छन्द अभिव्यंजना शैली को काव्याभिव्यक्ति का प्रमुख साधन स्वीकार किया है।

प्रारम्भ में तो कल्पना और आत्मानुभूति का रूप व्यक्तिगत था, किन्तु 'गेटे' ने काव्य के इस व्यक्तिमुखी रूप को सार्वजनिक बनाने का प्रयत्न किया, उसने कहा कि यद्यपि काव्य कवि की अपनी कल्पना का परिणाम है परन्तु उसका उत्कर्ष सार्वजनिक बन जाने में प्रकट होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'क्रोचे' के समय तक अभिव्यंजना सिद्धान्त की साहित्य में व्यापक रूप से प्रतिष्ठा हो चुकी थी। क्रोचे ने इस सिद्धान्त को शास्त्रीय रूप में उपस्थित किया और यह काव्य-कला का एक मात्र सिद्धांत घोषित हुआ है।

क्रोचे ने आत्मा की दो क्रियायें मानी हैं, एक विचारात्मक दूसरी व्यवहारात्मक। विचारात्मक क्रिया के भी दो भेद माने हैं, स्वयं प्रकाश-ज्ञान जो कल्पना द्वारा कला का उत्पादक है एवं तर्क की क्रिया जिससे दर्शन और

विज्ञान आदि का उदय होता है। व्यवहारात्मक क्रिया का भी उसके अनुसार दो रूप है, एक आर्थिक और दूसरा नैतिक। आत्मा का स्वयं प्रकाश-ज्ञान बौद्धिक ज्ञान से स्वतन्त्र है, वह एक प्रकार की अलौकिक शक्ति है और उसका संबंध मन से है। कवि के मन पर जब दृश्यजगत की नाना वस्तुओं की छाया पड़ती है तब यही अलौकिक शक्ति उन्हें अपनाकर नये बिम्ब के रूप में साकार और सुन्दर रूप दे देती है, यही आकार देने की क्रिया अभिव्यक्ति कहलाती है जो स्वभावतः शास्त्रीय बन्धनों एवं रूढ़िग्रस्त परम्पराओं तथा पिटे-पिटाये नियमों को स्वीकार करना नहीं चाहती, क्योंकि यह आंतरिक होती है और आन्तरिक अभिव्यक्ति मूलतः स्वच्छन्दवादी साहित्य की नियामिका है। क्रोचे मन की ही प्रक्रिया को महत्व अवश्य देता है क्योंकि वह दृश्य-जगत की कोई सत्ता स्वीकार ही नहीं करता, उसके अनुसार यही मानसिक प्रक्रिया उस दृश्यजगत को स्वरूप देती है जो मूलतः कल्पना पर आधारित है। मन की अव्यक्त सक्रिय अवस्था में वस्तुजगत का जो प्रभाव कवि के ऊपर प्रतिबिम्बित होता है काव्य और कला उसी की ही अभिव्यंजना है। इसमें सन्देह नहीं कि मन की अव्यक्त सक्रिय अवस्था में आये हुए उद्गार बाहर आने के लिये अपना अलग मार्ग ढूढेंगे जो मूलतः नियमों और परम्पराओं की अवहेलना करके निकाला हुआ स्वच्छन्द मार्ग होगा, क्योंकि काव्यात्मक अभिव्यंजना का संवेदन मनोमय तभी हो सकता है जबकि उसका स्वाभाविक प्रवाह निर्बन्ध तथा उन्मुक्त हो। काव्य का मनोमय होना उतना ही आवश्यक है जितना कि जीवन के लिये प्राणतत्व का होना। यह मनोमयता दृश्य-वस्तुओं की अभिव्यक्ति में नहीं आ सकती क्योंकि दृश्य-वस्तुओं का इन्द्रिय सवेदन निष्क्रिय होता है, जिससे काव्य की सृष्टि नहीं हो सकती, यही कारण है कि क्रोचे ने कला के वास्तविक रूप को आन्तरिक माना है। कलाकार या कवि के लिये यह आवश्यक नहीं कि वह अपनी आन्तरिक अनुभूति को शब्दों और रेखाओं का स्वरूप दे। वास्तविक कला और काव्य तो वह अनुभूति-जन्य अभिव्यंजना ही है जो मूलतः आध्यात्मिक होती है जो या तो विशुद्ध और परिपूर्ण होगी या कला होगी ही नहीं, दोनों की मध्यवर्ती कोई स्थिति नहीं होती। इस प्रकार हम देखते हैं कि अभिव्यञ्जनावाद के प्रवर्तक आचार्य क्रोचे ने काव्य को वैयक्तिक महत्व दिया है और यह काव्य की वैयक्तिक साधना स्वच्छन्दतावादी विचार धारा की मूल प्रेरक शक्ति है। क्रोचे के इस अभिव्यंजनावाद को जो एक प्रकार का वक्रोक्तिवाद कहा गया है वह तर्क संगत नहीं है, क्योंकि वक्रोक्तिवाद और अभिव्यञ्जनावाद में दो प्रमुख अन्तर है। वक्रोक्तिवाद की प्रकृति अलंकार की तरफ विशेष

देखाई देती है और उसमें स्वाभाविकता के लिए कोई स्थान नहीं है, किन्तु इसके विपरीत अभिव्यञ्जनावाद का बाह्य रूप से अलंकार के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है उसमें उन स्वाभावोक्तियों के लिये भी स्थान है जो मनोहर बिम्ब रूप में किसी दृश्य को ग्रहण कर सकें। इसे कभी भी न भूलना चाहिये कि क्रोचे ने उक्ति को प्रधानता दी है, उक्ति-वैचित्र्य को नहीं। इसलिए अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्तिवाद में समानता नहीं है। अभिव्यंजनावाद में स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति का कोई भेद नहीं। उक्ति केवल एक ही प्रकार हो सकती है जिसमें पूर्ण अभिव्यक्ति सम्भव हो। इस दृष्टि से अभिव्यंजनावाद स्वच्छन्दतावाद के अधिक निकट है।

रोमांस और यथार्थ

यदि हम पाश्चात्य साहित्य के क्रमिक विकास पर विहंगम दृष्टि डालें तो हमें ज्ञात होगा कि देश की जिस सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों ने साहित्य में यथार्थ अथवा यथार्थवाद को जन्म दिया उन्हीं परिस्थितियों ने रोमांस अथवा रोमांटिक साहित्य को भी उत्पन्न किया। यदि इन दोनों विचार-धाराओं में कोई अन्तर है तो केवल अभिव्यंजना शैली में अन्यथा दोनों का सामाजिक लक्ष्य प्रायः एक सा है। उनमें से एक यदि वास्तविकता को सामने रखकर वर्तमान की निस्सारता प्रकट करना चाहती है तो दूसरा कल्पना के माध्यम से सम्भावित श्रेष्ठतर परिस्थितियों का ज्ञान। १९वीं और २०वीं शताब्दी के मध्य में यूरोप के अन्दर सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों में अनेक मोड़ उपस्थित हुये जिनके परिणाम-स्वरूप साहित्य की विचारधाराओं में भी अनेक प्रकार के परिवर्तन आये। युग की आवश्यकताओं ने ही यथार्थवाद और स्वच्छन्दतावाद को जन्म दिया। १९वीं शताब्दी में विश्वसाहित्य धीरे-धीरे मानव की दैनिक समस्याओं, उसके वास्तविक जीवन तथा एक विशेष विकास-शील दिशा के निकट आया जिसका निर्माण पश्चिमी यूरोप के ऐतिहासिक यथार्थवाद के द्वारा हुआ। इसके अतिरिक्त १९वीं शताब्दी के अन्त में हुई फ्रान्स की राज्यक्रान्ति ने यूरोप की प्रायः सभी पुरानी संस्कृति को ही बदल दिया जिससे एक नवीन दृष्टिकोण उदय हुआ। इस महान् परिवर्तन की प्रेरणा से जो एक अभिनव कला परिपाटी का जन्म हुआ उसे ही स्वच्छन्दतावादी कला (Romanticism) के नाम से पुकारा गया। 'इस काव्य परिपाटी में सामयिक परिवर्तनों का प्रभाव प्रमुख रूप से व्याप्त था। कवियों की कल्पना सारी पूर्व-परम्परा का अतिक्रमण कर अत्यन्त नवीन रूप में व्यक्त हुई।'[1]

नवीनता की कामना ने ही किसी वस्तु को देखने के लिये जो अनेक ढंग उपस्थित किये उन्हीं के कारण परम्परा के प्रति आये विद्रोही भाव अनेक दिशाओं में विभिन्न शैलियों में अभिव्यक्त हो उठे और यथार्थवाद तथा स्वच्छ-न्दतावाद दोनों वैसी ही साहित्यिक शैलियाँ हैं जो वास्तविकता, असन्तोष तथा अभाव को व्यक्त करती हुई परिवर्तन तथा महत्वाकांक्षा की ओर प्रेरित करती

---

१. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, 'आधुनिक साहित्य।'

हैं। फ्रांस की राज्यक्रान्ति से समाज की जो रूपरेखा बनी उसने पढ़े लिखे लोगों की महत्वाकांक्षा, साहित्य और उनके समय की जनता में विग्रह उत्पन्न कर दिया। इस काल में वही लेखक महान् बन सकता था जो नवीनतम समस्यायें लेकर दैनिक जीवन को चित्रित करता। इसके अतिरिक्त अन्य नूतन ज्ञान-विज्ञानों के प्रभावों ने मानव समाज के सामने सोचने की ऐसी भूमि तैयार कर दी कि जिसके आधार पर वह सोचने लगा कि वर्तमान जो उसके सामने है वही अन्तिम सत्य नहीं है और जो जिन्दगी वह जी रहा है न वही उसकी एकमात्र जिन्दगी है जिसे उसे जीना है। इस प्रकार साहित्य ने जीवन अथवा जगत की वास्तविकता को उसके नग्न रूप में उपस्थित किया, उसे तो साहित्य में यथार्थवाद के नाम से पुकारा गया और जिसने सम्भावित श्रेष्ठतर जीवन अथवा जगत की झाँकी दी उसे स्वच्छन्दतावादी विचारधारा के नाम से अभिहित किया गया। किन्तु दोनों के मूल में प्रेरणा श्रेष्ठतर जीवन की कल्पना ही है।

आधुनिक युग में हम यथार्थवाद को रोमांसवाद से बिल्कुल भिन्न वस्तु समझने लग गये हैं; पर रोमांटिक युग के विचारकों की विचारधारा ऐसी नहीं थी। रोमांटिक विचारधारियों की उत्पत्ति ही कृत्रिमता, असत्यता और झूठ के विरोध में हुई थी; अतः वे स्वाभाविकता और यथार्थता के पक्षपाती थे। उनके मत में यथार्थता रोमान्सवाद की सार वस्तु है। 'वायरन' ने सत्य के महत्व का उद्घोष करते हुए कहा था कि (Truth is always stranger than fiction) अर्थात् सत्य सदा ही विचित्र होता है, कथा कहानी से भी अधिक विचित्र। 'हेजलिट' ने एक बार कहा था 'कि मौलिकता की परीक्षा और विजय इसमें नहीं है कि वह हमें ऐसी वस्तु दिखाये जो कभी घटी नहीं है और जिसकी हम आसानी से कल्पना भी नहीं कर सकते पर इसमें है कि वह हमें उस बीज को दिखाये जो हमारी आँखों और पैरों के तले हो फिर भी अपनी प्रतिभा और मस्तिष्क की दृढ़ पकड़ के अभाव में उसके अस्तित्व की कल्पना भी हम नहीं कर सकते। वर्डस्वर्थ में इस रोमांसवाद और यथार्थवाद के सम्मिश्रण के बारे में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं, वह एक दम स्पष्ट है जिसे कोई भी आसानी से देख सकता है।'[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि आरम्भ से ही ये दोनों साहित्यिक प्रवृत्तियाँ स्वरूप में भिन्न होते हुये भी एक ही प्रेरणा से उद्भूत हैं।

"साहित्य में वह सभी यथार्थ है जिसके पीछे साहित्यकार की अपनी

---

१. श्री देवराज उपाध्याय, रोमांटिक साहित्य शास्त्र, पृ० १४५।

अनुभूति है, और जिसे वह दूसरों को अनुभूत करा सकता है। मानव अनुभूति के विषय असीम और असंख्य हैं। इनकी सीमा के निर्धारण का प्रयत्न कोरी विडम्बना होगी। साहित्यकार के लिये एक नियंत्रण स्वीकार किया जा सकता है, वह है उसके साहित्य का लोक-कल्याणकारी रूप। उसे समाज का अकल्याण करने का कोई भी अधिकार नहीं है। उसे कदापि ऐसे यथार्थ का चित्रण नहीं करना चाहिये, जिससे कि पाठकों की कुरुचि-पूर्ण, कुत्सित, पशु-वृत्तियों को सहलाहट मिले। परन्तु स्वस्थ रोमांस मानव-जीवन में ताजगी लाने तथा उसे गतिशील बनाये रखने के लिये अति आवश्यक है। साहित्य के क्षेत्र में 'रोमांस' भी उतना ही यथार्थ है, जितना रोटी-कपड़ा।'[1]

'लोगों की सामान्य धारणा है कि 'रोमांस' विलासी जीवन की क्रोड़ में फलता फूलता है और उसकी सुकुमार लता संघर्ष-रत मानवजीवन के ताप को पाकर मुरझा जाती है। कहा जाता है कि आज का संघर्षरत मानव किसी प्रकार की रोमानी भावनाओं में दिलचस्पी नहीं ले सकता। जो रोटी कपड़े के लिये, अपने अधिकारों के लिये, अपने जीवन के लिये शोषकों से लड़ रहा है, उसे प्रेम कहानी पसन्द आयेगी! किन्तु यह तथ्य नहीं है। शोषित और संघर्षरत व्यक्ति भी मानव है, 'आटोमैट' नहीं जो सदा एक ही बात सोचता रहेगा। पेट की भूख के अतिरिक्त मानसिक भूख उसे भी लगती है, इसका अकाट्य प्रमाण प्रत्येक देश के लोकगीत और लोक कथायें हैं। लोकगीत और लोक कथायें बुर्जुआ वर्ग की रचनायें नहीं हैं, ये प्रत्येक देश और काल के शोषितों की, सर्वहारा वर्ग की रचनायें हैं। कोई नहीं कह सकता कि ये रचनायें यथार्थ का चित्रण नहीं है। इनमें हमें जन-जीवन की सच्ची झाँकी देखने को मिलती है। यह कट्टर से कट्टर प्रगतिवादी भी स्वीकार करेगा कि लोकसाहित्य में केवल संघर्ष, और रोटी-कपड़े की ही बातें नहीं हैं। मानव जीवन में प्रेम-तत्व का पाया जाना चिरन्तन सत्य है, फलस्वरूप साहित्य के अन्दर रोमांस उतना ही शाश्वत है जितना कि साहित्य में मानव।'[2]

मैंने इसकी चर्चा अन्यत्र की है कि कल्पना और रोमांटिक काव्य का परस्पर कितना गहरा सम्बन्ध है। यथार्थवाद जो कि एक प्रकार के काल्पनिकता के विरोधी अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है, यदि उसे भी हम गम्भीरता पूर्वक विचार करें तो वह भी कहीं-कहीं कल्पना का दामन नहीं छोड़ पाता।

---

१. कल्पना-सम्पादकीय अक्टूबर १९५२, पृ० ७४३।

२. हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद पृ० १६, १७।

अँग्रेजी साहित्य में आजकल यथार्थवाद का स्वरूप बहुत कुछ बदल गया है। वह अब कल्पनामय और रहस्यमय हो गया है और उसमें बहुत सी ऐसी वस्तुयें प्रवेश पा गई हैं, जो कि सत्य से बहुत दूर और असम्भव तथा अविश्लेष्य मालूम पड़ती हैं। परन्तु यथार्थवाद के समर्थक अब भी यही कहते हैं, कि हमने सत्य के अन्वेषण के लिये अपने क्षेत्र को और अधिक विस्तृत कर लिया है जिसमें साहित्य की पुरानी लीक पर चलने की कोई आवश्यकता नहीं। मायर्स के अनुसार तो वास्तववाद ने ही अपने नग्न, निकृष्ट और नीरस वाग्विस्तार को अधिक से अधिक अर्थ-गर्भित बनाने के लिये प्रतीकवाद का रूप धारण कर लिया है।

कितने वास्तववादी लेखक आगे चलकर स्वयं प्रतीकवादी बन गये हैं। प्रभाववादी कवि उस घटना का वर्णन करते हैं जो निरपेक्ष दृष्टि से उनके हृदय पर अपना प्रभाव डालती है; जब कि यथार्थवादी उसका तद्वत वर्णन कर देता है। वह प्रभाववादियों की भाँति हृदय पर पड़े हुये प्रभावों के अनुसार नहीं करता। 'चित्रकार जब चित्र बनाने बैठता है तब वह तथ्य का सम्वाद देने नहीं बैठता। वह तथ्य को उसी हद तक स्वीकारता है, जिस हद तक उसको लक्ष्य करके किसी एक सुषमा का छन्द विशुद्ध रूप में मूर्त हो उठता है। यह छन्द विश्व का नित्य पदार्थ है। इस छन्द के ऐक्य सूत्र में ही हम तथ्यों के सत्य का आनन्द पाते हैं। इस विश्व छन्द के आलोक में बिना उद्भासित हुये तथ्य का हमारे लिये कोई मूल्य नहीं।'[1]

यथार्थवादी लेखक जैसे 'बालज़ाक' या 'टालस्टाय' अपनी रचना की अन्तिम प्रश्नावली को समाज की सबसे महत्त्वपूर्ण तथा नवीनतम समस्या से चुनते हैं और वहीं से उनकी रचना का आरम्भ भी होता है। जन-समुदाय की कठिनाई जो उस समय तीव्रतम रूप में सामने रहती है, उसी के प्रति सहानुभूति एवं उदारता दिखलाने के लिये वे अपने साहित्य की सृष्टि करते हैं। यही कठिनाइयाँ तथा दर्द उनके अनुराग अथवा घृणा का स्वरूप निश्चित करते हैं और इसी भावुकता के द्वारा ही उनकी कल्पनात्मक दृष्टि का निर्माण होता है, तथा उसी से पता चलता है कि उन लोगों ने इसे किस प्रकार और कैसे देखा है। यही देखने की दृष्टि की विशिष्टता ही यथार्थवाद और स्वच्छन्दतावाद के स्वरूप में अन्तर डालती है। जो लोग इसका प्रयोग विरोधी अर्थों

---

१. रवीन्द्रनाथ ठाकुर, रवीन्द्रसाहित्य भाग २४, अनु० हंसकुमार तिवारी, पृ० ४३, ४४।

में करते हैं उनका दृष्टिकोण नितान्त भ्रमात्मक है। उनका यह कहना कि यथार्थवादी साहित्य अपना विषय-वस्तु काल्पनिक संसार से न लेकर वास्तविक संसार से लेता है, कोई मूल्य नहीं रखता क्योंकि यथार्थवादी लेखक अपनी कल्पनात्मक प्रतिभा के बल पर बाह्य पदार्थों का यथातथ्य चित्र उपस्थित करने का भी प्रयत्न करता है अथवा भौतिक तत्वों का चित्रण करते समय अपनी भावुकता तथा अपनी अनुभूतियों को बाधक नहीं होने देता और यही कल्पना, भावुकता तथा कवि की अनुभूतियाँ ही रोमांटिक काव्य की जननी है। जब हम यह स्वीकार करने में नहीं हिचकते कि 'यथार्थवाद यथार्थता की आधारभूमि पर जीवन का नूतन चित्र है'[1], तो हमें यथार्थवाद और स्वच्छन्दतावाद के पारस्परिक सम्बन्ध को स्वीकार करना ही होगा।

१. लेखक हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद, पृ० ७।

रीतिवाद और स्वच्छन्दतावाद

भ्रान्तियाँ—पाश्चात्य साहित्य के अन्दर दो परस्पर विरोधी शब्द 'क्लैसिक' और 'रोमांटिक' बहुत दिनों से प्रयुक्त होते आ रहे हैं। दार्शनिक अथवा चिन्तक चुपके से इन दोनों शब्दों के प्रयोगों की अवहेलना कर जाते हैं। परन्तु ये शब्द दोषरहित तर्कों के साथ विद्वानों के सामने उसी प्रकार मँडराया करते हैं जैसे प्रेत-भावना। प्रेत-भावना की भाँति, न चाहते हुये, भी हठात् उनका प्रवेश हो ही जाता है, जिनको शब्दों में बाँधना अत्यन्त कठिन है; और उसके साथ ही साथ वे अत्यन्त थका देने वाले होते हैं तथा किसी भी प्रकार से उनसे पीछा नहीं छुड़ाया जा सकता। व्याकरण-विशेषज्ञों ने साहित्य में इनको उपयुक्त स्थान दिलाने का प्रयत्न किया है तथा जहाँ तक हो सका है इनके निश्चित स्थान के निर्धारित करने का भी प्रयत्न किया है और उनकी श्रेणी निश्चित करने तथा एक निश्चित परिभाषा देने की भी चेष्टा की है। विद्वानों के स्तुत्य अथक प्रयत्नों के बाद भी उन्हें एक प्रकार से असफलता ही मिली है और वे इन शब्दों की स्पष्टता घोषित नहीं कर पाये। अन्त में विद्वानों ने अथक प्रयत्न करने के पश्चात् यह परिणाम निकाला कि वे भ्रान्ति से अब तक छाया को एक ठोस पदार्थ समझते रहे हैं।

प्रोफेसर एलन (Ellon) इन्हें विचारों को घबड़ा देने वाले (Thought confounding words) शब्द कहा है क्लैसिकल की अधिकांश परिभाषायें अनेक अवसरों पर रोमांटिक के साथ प्रयुक्त हुई हैं और स्वच्छन्दतावाद (Romanticism) की अधिकांश परिभाषायें कुछ उदण्डतापूर्ण अपवादों के साथ रीतिवाद (Classicism) के लिये प्रयुक्त हुई हैं। इन शब्दों को लेकर विवाद इस सीमा तक पहुँच गया है कि क्लैसिकल और रोमांटिक शब्दों की परिभाषा एक दूसरे के विरोधी अर्थों में ही नहीं बल्कि विचित्र तथा निरर्थक विचारों के लिये भी की जा रही है।

प्राचीन तथा विभिन्न अवसरों पर उठे इन शब्दों के विवादों की पुनरावृत्ति करना उचित नहीं क्योंकि इस विषय की व्याख्या विभिन्न विरोधी रूपों में अनेक प्रकार से की जा चुकी है। अल्फ्रेड डी मुसेट (Alfred de-muset) नामक विद्वान ने सन् १८३६ ई० में इसकी व्याख्या अत्यन्त ही चपलतापूर्ण चातुरी के साथ की है जिसके अनुसार रोमांटिक शब्द का प्रयोग केवल

ड्रामा के लिये ही होना चाहिये। उसने शेक्सपियर को रोमांटिक माना है क्योंकि उसने परंपरागत सीमा का उल्लंघन किया और उसके पात्र चमत्कारिक ढङ्ग से १५ मिनट में ही लन्दन से एथेन्स तथा अलेक्जेन्डरिया की लम्बी यात्रा समाप्त कर आते हैं। परन्तु शीघ्र ही वह यह भी स्वीकार कर लेता है कि रोमांटिक और क्लैसिकल कवितायें तथा उपन्यास और संगीतमय छोटी कवितायें भी थीं। इस प्रकार की कठिनाई 'डी मुसेट' तक ही नहीं सीमित है। जे० जे० रावर्टसन् ने १९२३ में एक अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण गम्भीर रचना 'स्टडी इन दी जेनेसिस आफ रोमांटिक थियरी इन दी एटीन्थसेन्चुरी' (Study in the genesis of the romantic theory in the eighteenth 'century') नाम से यह दिखलाने के लिये प्रस्तुत किया कि स्वच्छन्दतावाद का आरम्भ इंग्लैण्ड में अठारहवीं शताब्दी में हुआ जिसे इंग्लैण्ड के विद्वानों ने एक मात्र इटली के एक छोटे से आलोचक-सम्प्रदाय से प्राप्त किया था। उसी वर्ष बोलोगन में 'टाफेनिन' ने एक रचना प्रस्तुत की जिसमें उसने सुझाव रखा कि उपरोक्त इटली के आलोचक समुदाय को क्लैसिक भी कहा जा सकता है। अतः स्वभावतः यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि वे आलोचक किस वर्ग के थे? वे स्वच्छन्दतावादी थे अथवा रीतिवादी? उन्हें क्लैसिक कहा जाय अथवा रोमांटिक?

इस प्रकार हम देखते हैं कि क्लैसिकल और रोमांटिक के सम्बन्ध में जो विवाद उठता रहा है वह केवल इसके पारस्परिक विरोधी अर्थों को लेकर ही नहीं बल्कि वह इस सीमा तक भी उतर आया है जो विचित्र तथा निरर्थक तर्कों का भी रूप ग्रहण करता रहा है। रीतिवादी परम्परा को स्वीकार करने का अर्थ होता है एक निश्चित नियमों, निश्चित प्रकारों तथा अभिप्राय को स्वीकार करना। रीतिवादी परम्परा के आदर्श भी निश्चित होते हैं। साहित्य में रीति सम्प्रदाय पुरातनवादियों का सम्प्रदाय है। इसके अतिरिक्त स्वच्छन्दतावाद का अभिप्राय स्वीकार करना नहीं बल्कि बहिष्कार करना होता है। यह शाब्दिक अर्थ का आविष्कार तथा सांकेतिक अर्थों की खोज करता है और दृश्य छोड़कर अदृश्य की कल्पना करता है तथा यह परंपरागत निश्चित नियमों के असन्तोष से उद्भूत है। एक ओर जहाँ संस्कृत नियमों को स्वीकार कर लेना ही रीतिवाद है वहीं दूसरी ओर स्वच्छन्दतावाद असंस्कृत अथवा प्राकृतिक इच्छा का नाम है।

राल्फ इ० सी० हाटन (Ralph E. C. Houghton) के अनुसार 'सभी महान साहित्य की साधारणतः एक ही विशेषता है, वह है सौन्दर्य; चाहे

वह रीतिवादी हो अथवा स्वच्छन्दतावादी। सौन्दर्य की खोज में सामान्यतः सत्य तथा रूप की पूर्णता पर रीतिवाद अत्यधिक ध्यान देता है किन्तु स्वच्छन्दतावाद चटकीलेपन, संकेत और रहस्य पर अधिक ध्यान रखता है।[1] रीतिवाद हमें अनावश्यक विवरण नहीं देता और यह आशावाद तथा निराशावाद के आधिक्य से परे है, इसके प्रतिकूल स्वच्छन्दतावाद में सभी बातें पाई जाती हैं।

अंग्रेज कवि कीट्स, जिसकी गणना स्वच्छन्दतावादी कवियों में की जाती है, काव्य के सौन्दर्य पर अधिक बल देता है और उसके अनुसार 'कविता के लिये आवश्यक है कि वह सौन्दर्याधिक्य से हमारा रंजन करे।'[2]

वह रीतिवाद की सुन्दरता का समर्थक था जो उन पहाड़ी चोटियों की सुन्दरता के समान है जिसमें वैभवशाली उपत्यकायें भी हों।

क्लैसिक और रोमांटिक में भेद

क्लैसिकल अथवा शास्त्रीय साहित्य काव्य की शैली तथा प्रकार पर अधिक बल देता है। इसके मूल में केवल साहित्य-रूप की सुन्दरता (Beauty of form only) विद्यमान रहती है। उपरोक्त शब्द केवल यही अर्थ नहीं रखता क्योंकि साहित्य में तो इसका प्रयोग होता ही है, इसके अतिरिक्त कला में चित्रोपमता लाने के लिये तथा संगीत आदि में भी यह प्रयुक्त होता है। परन्तु इसका वास्तविक महत्व काव्य रूप के लिये ही है। जे० सी० फिलमन, जिसने शास्त्रीय संगीत के सम्बन्ध में अपनी रचानायें प्रस्तुत की हैं, के अनुसार इसमें प्रकार (Form) अथवा रूप मुख्य है और वर्ण्यविषय उसके आश्रित है। किन्तु रोमांटिक साहित्य भावुकता प्रधान होता है और उसमें वर्ण्यविषय की प्रधानता होती है और रूप अथवा प्रकार उसके आश्रित है। हृदय के वेग भरे उमड़न से ओत-प्रोत होकर जब प्राणों की आकुलता कवि की वाणी के माध्यम से बरबस फूट निकलती है तो उससे जिस साहित्य की सृष्टि होगी वह रोमांटिक अथवा स्वच्छन्दतावादी साहित्य होगा। इसके अन्दर अभिव्यक्ति का इतना प्रबल वेग होता है कि शास्त्रीय साहित्य की लौह दीवारें

---

१. "The common quality of all great literature whether Classic or romantic is beauty, but in seeking beauty classicism looks more to truth, simplicity and perfection, of Form, romanticism to colour suggestion and mystery. (Rolph E. C. Houghton)

२. "Poetry should delight us by a fine excess" (Keats).

इसे रोक न सकने के कारण छिन्न भिन्न हो जाती हैं और स्वच्छन्दतावादी साहित्य की कविता-कामिनी निर्बन्ध रूप से कल्पना प्रांगण में विचरण करने लग जाती है। जिसके अन्दर स्वच्छन्दता होगी और जो सबसे महत्वपूर्ण वस्तु होगी वह कवि की आन्तरिक अनुभूति है जो प्रत्येक महान् कविता अथवा साहित्य का मूल तत्व है।

क्लैसिक अथवा शास्त्रीय साहित्य की सारी समस्यायें शैली की समस्या है। आधुनिक क्लैसिक कविताओं से हमारा तात्पर्य उन कविताओं से है जिनका एक निश्चित स्वरूप है तथा एक निश्चित शैली है और वे शास्त्र विहित नियमों की कसौटी पर खरी उतरती हैं। परन्तु रोमांटिक कविताओं में आंतरिक प्रेरणा महत्वपूर्ण है, वह शैली के सम्बन्ध में एक भी शास्त्रीय बन्धन स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं है। अनुभूति और कल्पना को जिस प्रकार श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति मिल सके स्वच्छन्दतावादी साहित्य की वही विहित शैली है जिससे यह साहित्य एकरसता और एकरूपता को दूर से ही नमस्कार करता है। इसका अपना एक अनिश्चित सौन्दर्य जो परिवर्तित होते रहने के कारण सदैव ताजा रहता है, जूठा होता ही नहीं, इसके अतिरिक्त इसमें ऐसा असाम्य पाया जाता है कि जिसे स्वीकार तथा पसन्द करने का लोभ छोड़ा ही नहीं जा सकता।

'गेटे' शास्त्रीय तथा स्वच्छन्दतावादी को एक दूसरे से भिन्न नहीं मानता, उसके अनुसार दोनों में परस्पर गहरा सम्बन्ध है। रोमांटिक आन्दोलन ने साहित्य के इतिहास में एक नवीन सुन्दर काव्य-शैली का प्रादुर्भाव किया है और यह भी बिल्कुल निश्चित है कि केवल शैली के आधार पर रची कविता को क्लैसिकल अथवा शास्त्रीय कविता नहीं कहा जा सकता। गेटे की उक्ति में सत्य का विशेष अंश देखा जाता है क्योंकि सुन्दर से सुन्दर आकर्षक शव निष्प्राण होने के कारण आकर्षण की वस्तु नहीं बन सकता और वह आकर्षक तभी हो सकता है जब दोनों यानी प्राण और रूप का समन्वय हो। कोई भी कविता शैली की सुन्दरता के कारण ही आकर्षक नहीं बन सकती यदि उसमें सजीवता नहीं है।

आचार्य वामन ने रीति को काव्य की आत्मा माना है; रीतिरात्मा काव्यस्य' जो सम्बन्ध शरीर का आत्मा के साथ है, वही शब्द-अर्थ-रूप काव्य-शरीर का रीति के साथ है। रीति का अर्थ है 'विशिष्ट पद रचनारीतिः'। विशिष्ट का अर्थ है गुण युक्त 'विशेषोगुणात्मा'। इस प्रकार रीति का अर्थ हुआ—गुण सम्पन्न पद रचना और 'रीतिरात्मा काव्यस्य' का अर्थ हुआ। गुण सम्पन्न पद

रचना काव्य की आत्मा है।'[1]

इस प्रकार वामन ने काव्य में रीति (शैली) को ही प्रधानता दी है। शैली कविता का बाह्य स्वरूप है, वह कविता की आत्मा अथवा कविता की सर्वस्व नहीं हो सकती। यह काव्य का ऐसा उपधान है जिसके द्वारा काव्य का सौन्दर्य निखरता है। सौन्दर्य के प्रति समाज का दृष्टिकोण स्थान, काल तथा सभ्यता के अनुसार बदलता रहता है। जिस प्रकार सभ्यता के विकास के साथ-साथ मानव अपने शृंगार सम्बन्धी साधनों में परिवर्तन लाता गया उसी प्रकार काव्य सौन्दर्य के प्रति परिवर्तन की पुकार आवश्यक ही है। यदि काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में दृष्टिकोण बदल जाता है तो आधुनिकतम स्वीकृत काव्य-रूप को हमें शैली का स्थान देना ही पड़ेगा, उसके लिये नाम की व्यवस्था हम चाहे जो कर ले। चाहे हम उसे नवीन शास्त्रवाद कह लें अथवा स्वच्छन्दतावाद या नवीनतावाद। कविता 'जीवन के व्यापक और साधारण सत्यों को विशिष्ट रूप देकर इस तरह से अभिव्यक्त करती है कि वे हर एक के लिये प्रेषणीय और ग्रहणीय हो जाते हैं। पर इन सत्यों को हम किस प्रकार प्राप्त करते हैं और किस ढङ्ग से उन्हें अभिव्यक्त कर प्रेषणीय बनाते हैं इसमें अन्तर हो सकता है। अतः इस अन्तर के कारण विभिन्न कवितायें हो सकती हैं।[2] यही कारण है कि जब साहित्य शास्त्र के बन्धन समय से पीछे पड़ जाते हैं तो उनकी सीमा अखरने लगती है और युग की पुकार उस बन्धन को तोड़ डालने के लिये वास्तविक उद्गारों को आमंत्रित करती है।

कालानुसार परिवर्तन क्रम अपनी स्वाभाविक गति से चलता रहता है जिसे हम तत्क्षण देख नहीं पाते और यह परिवर्तन देशकाल की सीमा से परे होता है। 'अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक पहुँचते-पहुँचते अनेक आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक कारणों से काव्य-दर्शन में भी मौलिक परिवर्तन आरम्भ हो गया। कान्ट, फिक्टे, शेलिंग आदि जर्मन दार्शनिकों ने दृष्टि को वस्तु से हटाकर आत्माभिमुख कर दिया। इन दार्शनिकों के प्रभाव से काव्य में विवेक और रीति के स्थान पर अन्तःप्रेरणा, अन्तर्दृष्टि, अन्तर्प्रकाश, कल्पना, आनन्दातिरेक आदि का प्राबल्य घोषित हुआ। बाह्यरूप का वस्तुगत सौन्दर्य केवल छाया सौन्दर्य रह गया। इस प्रकार इस युग में रीति सिद्धान्त पर सबसे अधिक घातक प्रहार हुआ। आत्मा के इस अग्नि द्रव में कविता के बाह्य अलंकरण

---

१. डा० नगेन्द्र, हिन्दी काव्यालंकार सूत्र की भूमिका, पृ० ९।

२. श्री देवराज उपाध्याय, रोमाण्टिक साहित्य शास्त्र।

शृंगार अनायास ही भस्म हो गये। परन्तु इस युग की कविता अलंकृत है—यह बात नहीं है।'[1]

यह विश्वास बहुत दिनों से चला आ रहा है कि हमारा सारा ज्ञान वस्तु के अनुरूप होना उचित है परन्तु अब इस बात पर विचार करने का अवसर आ गया है कि क्या मानव उन्नति के लिये इसके प्रतिकूल यह धारणा श्रेष्ठतर नहीं है कि वस्तु को हमारे ज्ञान के अनुकूल होना चाहिये। काव्य का स्वयं अपने में कोई स्वरूप नहीं है उसकी अभिव्यंजनशक्ति ही उसको वास्तविक स्वरूप प्रदान करती है। अभिव्यंजना का महत्व अपने आप में कोई नवीन उद्भावना नहीं है वह बहुत कुछ समय तथा समाज के सुसंस्कृत विचारों पर आधारित है। काव्य की सामाजिक उपादेयता जिस रूप में अक्षुण्ण रहे वही काव्य का सर्वोत्तम स्वरूप और वही काव्य का श्रेष्ठ शास्त्रीय रूप अथवा प्रकार है। इस दृष्टि सेकाव्य को परखने अथवा देखने से हमें अंग्रेज विद्वान गेटे की पूर्वोक्तियाँ अक्षरशः सत्य लगती हैं कि रीति अथवा शास्त्रीयवाद तथा स्वच्छन्दतावादी अथवा रोमांटिक साहित्य का एक दूसरे से परस्पर गहरा सम्बन्ध है।

क्लैसिकल अथवा शास्त्रीय काव्य के लिये जो शैली की समस्या प्रधान मानी गयी है उसके सम्बन्ध में अंग्रेज विद्वान् 'फ्लावर्ट' का मत अत्यन्त उदारवादी है और यदि काव्य में शैली की समस्या उसकी दृष्टि से मानी जाय तो रूप को लेकर स्वच्छन्दवादी साहित्य और रीतिवादी साहित्य में जो कटु विरोध चलता रहता है किसी अंश तक समाप्त हो सकता है। फ्लावर्ट के अनुसार 'शैली की समस्या वहाँ यह थी कि केवल एक ही अद्वितीय शब्द, वाक्यांश, वाक्य, अनुच्छेद, निबन्ध या गीत—कुछ भी हो उस कामना की छबि या मन के चित्र के साथ पूर्णतः तादात्म हो।' इस प्रकार यदि मन की छवि स्वतन्त्रत रूप में यदि शास्त्रीय शैली के माध्यम से सम्भव हो सके तो क्लैसिकल काव्य और रोमांटिक काव्य से अन्तर ही क्या रह जाता है। इसी लिये अलंकार, शाब्दिक चमत्कार तथा अन्य प्रसाधन जो अभिव्यञ्जना के अभिन्न अङ्ग नहीं हैं—जिनका पृथक् अस्तित्व है, शैली का वास्तव में उपकार नहीं करते। वे उसकी मूलभूत एकता को नष्ट कर देते हैं। 'शब्द का औचित्य वहीं सिद्ध होता है जहाँ वह अर्थ के साथ तदाकार हो जाता है।' 'वामन' के अनुसार गुण और अलङ्कार दोनों सौन्दर्य के अङ्ग हैं। गुण काव्य के आन्तरिक एवं अविच्छेद्य अंग हैं, अलंकार बाह्य तथा विच्छेद्य। यही धारणा 'रैले' की अलंकार तथा प्रसाधन के सम्बन्ध में है।

---

१. डा० नगेन्द्र, हिन्दी काव्यालंकार सूत्र की भूमिका।

सच तो यह है कि 'रैले' का अलङ्कार हमारे काव्य-शास्त्र की वक्रता के और भी निकट है। उक्ति की वक्रता को ही उसने अलङ्कार की संज्ञा दी है और अप्रस्तुत विधान को प्रसाधन की। और यही अप्रस्तुत विधान 'छायावाद' का मूलमन्त्र है जिसे हम स्वच्छन्दतावाद से भिन्न नहीं कह सकते। छायावाद और स्वच्छन्दतावाद की चर्चा हम अन्यत्र अवसर आने पर करेंगे जिससे यहाँ इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि यदि दोनों अभिन्न नहीं हैं तो भिन्न भी नहीं कहे जा सकते। भ्रांतिवश रोमांटिक और क्लैसिक शब्द जो एक दूसरे के विरोधी अर्थों में प्रयुक्त होते चले आ रहे हैं यदि इस पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो यह परिणाम निकलेगा कि ऐसा असावधानी के कारण हुआ है तथा काव्यगत रूढ़ियों के प्रति अन्धविश्वास की भावना ही इसके लिये उत्तरदायी है।

कौन सी वस्तु सुन्दर है और कौन सी वस्तु असुन्दर इसका कोई ठोस परिमाण नहीं है और न कुछ निश्चित ऐसे नियम ही हैं जिनके आधार पर हम सुन्दर और असुन्दर का निर्णय कर दें। इस प्रकार के निर्णय में वैयक्तिक तथा सामाजिक रुचियाँ महत्वपूर्ण कार्य किया करती हैं। एक स्थान और एक समय में ही ऐसे व्यक्ति सरलता से मिल जायेंगे जिनकी रुचियाँ भिन्न हो सकती हैं। जो वस्तु किसी एक व्यक्ति के लिये सर्वोत्तम होगी वही दूसरे के लिये सुन्दर भी नहीं हो सकती। कहते हैं लैला सुन्दर को कौन कहे कुरूप थी किन्तु मजनू की निगाह में वह खुदा से भी बढ़ कर थी। यदि किसी को शृंगारिक कविता अधिक पसन्द है तो उसी समय दूसरे को बीर रस की कविता अधिक अच्छी लग सकती है। उदाहरण के लिये हम हिन्दी साहित्य अथवा किसी भी साहित्य के इतिहास को ही ले सकते हैं। हिन्दी साहित्य के अन्दर प्रवृत्तियों के आधार पर जितने कालों का नामकरण हुआ है उन सबों में यदि देखा जाय तो सम्पूर्ण रचनायें एक प्रकार की ही नहीं हुई हैं बल्कि हमें सभी प्रकार की कविताओं के नमूने मिल सकते हैं। वीरगाथा काल में भक्ति और शृंगार, भक्तिकाल में वीर और शृंगार तथा रीति काल में वीर और भक्ति रस की रचनाएँ प्रचुर मात्रा में मिल सकती हैं। इससे स्पष्ट है कि रुचि वैभिन्य का होना अनिवार्य है जिससे इसमें भी सन्देह नहीं कि सौन्दर्य के प्रति सबका दृष्टिकोण भी भिन्न हो सकता है चाहे वह शैली का सौन्दर्य हो अथवा काव्यगत अभिव्यक्ति का।

किसी वस्तु को सुन्दर और असुन्दर हम अपने देखने के अभ्यास से कहते हैं और इसी आधार पर सम्भवतः कालविशेष में सुन्दर काव्य के स्वरूप की

रूपरेखा निश्चत की गयी होगी। पाश्चात्य साहित्य के अन्दर अरस्तू के पूर्व साहित्य की विशेषताओं की विवेचना करने की कोई सामान्य कसौटी नहीं थी जिस पर कसकर यह कहा जा सका हो कि अमुक काव्य सुन्दर अथवा अमुक असुन्दर है। अपनी रुचि विशेष के कारण ही विद्वान किसी भी कविता पर रीझ कर उसकी प्रशंसा कर दिया करते थे और यदि कविता उन्हें अच्छी नहीं लगी तो उसे असुन्दर घोषित कर देते थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्य के संबंध में जो निर्णय दिये जाते थे वे पूर्णतः वैयक्तिक थे और आज का कवि जिसे हम रोमांटिक कहते हैं, वह भी कविता को पूर्णतः वैयक्तिक अनुभूति मानता है। यह बात दूसरी है कि कवि की साधना की प्रौढ़ता के कारण उसकी वैयक्तिक अनुभूति वैयक्तिक न रहकर सर्व-साधारण की अनुभूति बन जाय। तुलसीदास जी ऐसे मर्यादावादी कवि भी कविता को 'स्वान्तःसुखाय' मानते थे। 'अरस्तू' के सामने यह एक समस्या थी कि किस प्रकार पूर्ववर्ती विद्वान बिना आधार के अपना निर्णय जोरदार शब्दों में सुना दिया करते थे। इसे देखकर उससे न रहा गया और काव्य के सम्बन्ध में उसने कुछ सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना चाहा। "उसका मनोवैज्ञानिक दिमाग बहुत सुलझा हुआ था और उसने सोचा कि बिना कारण के कार्य नहीं हो सकता। क्यों कोई रचना हमारे मर्म को स्पर्श कर हिला देती है और क्यों दूसरी रचना हमारे ऊपर ही ऊपर निकल जाती है; छूती तक नहीं, इसके उचित कारण अवश्य होने चाहिये—उसने देखा कि सब कला-कृतियों में चाहे और कुछ न भी हो पर इस रूपविन्यास और आंगिक संगठन की ओर से उदासीनता कभी नहीं दिखाई गई है। मूर्तिकला को देखने से तो यह और भी स्पष्ट हो जाता है.....उसने एक बात अनिवार्य रूप से पाई। वह थी अनेकत्व में एकत्व (Unity in diversity)। किसी वस्तु को देखने का हमारा एक अभ्यास होता है जिसका एक सन्तुलन होता है, जैसे मनुष्य का शरीर ही है। मनुष्य भिन्न प्रकार के होते हैं पर उनकी एक निश्चित रूपरेखा होती है जिससे हमें किसी भी मनुष्य को मनुष्य कहने में कठिनाई का अनुभव नहीं होता।"[१]

रोमांटिक या स्वच्छन्द शैली आधुनिक युग की काव्य धारा का मूलाधार है। इसके विपरीत क्लैसिक या रीतिवादी शैली पुरातन काव्य रचना विधान की समर्थक है। यद्यपि उस पर भी युग की बदलती हुई परिस्थितियों का प्रभाव पड़ा है। १५ वीं १८ वीं शताब्दी तक यूरोप में प्राचीन ग्रीक कला की बाहरी

---

१. श्री देवराज उपाध्याय, रोमांटिक साहित्य शास्त्र, पृ० ९।

रूपरेखा का त्याग कर उसकी आत्म या मूल प्रेरणा को ग्रहण करने की प्रवृत्ति बढ़ती गई। उसी नवीन कला-आन्दोलन ने क्लैसीसिज्म को न्यू क्लैसीसिज्म का नाम दे दिया। १८ वीं शताब्दी की फ्रांसीसी राज्यक्रांति ने इस कलावादी आन्दोलन को और भी गति दी। प्राचीन परम्परा गत संस्कारों की इतिश्री के साथ ही साथ साहित्य में भी परिवर्तन हुआ, जिससे एक अभिनव कला परिपाटी का जन्म हुआ, जिसे ही स्वच्छन्द कला के नाम से पुकारते हैं। इस नवीन स्वच्छन्दतावादी शैली के कवियों ने पूर्व परम्परा का अतिक्रमण किया और उनकी कल्पना नवीन दृष्टिकोण एवं नवीन स्वतन्त्र रूपों के आधार पर व्यक्त हुई। इस रोमांटिक काव्य शैली में परम्परा के प्रति विद्रोह था। इंगलैण्ड में शेली और किट्स, फ्रांस में रूसो और जर्मनी में गेटे एवं वीकेलमैन इस नवीन स्वच्छन्दधारा का उन्नयन कर रहे थे। इसके विपरीत ग्रीक कला के समर्थक लेसिङ्ग जैसे विद्वान परम्परावादी शैली का समर्थन कर रहे थे। परम्परावाद या रीतिवाद काव्यधारा कला के व्यक्त सौन्दर्य-प्रसाधनों का आग्रह करके चलती है। काव्य के आन्तरिक सौन्दर्य पर इसका ध्यान कम रहता है और वाह्य सौन्दर्य अर्थात् शब्दों और आकृतियों पर अधिक। काव्य गत भावों की उपेक्षा और उसके बाह्य रूप की सूक्ष्माति-सूक्ष्मपाबन्दी इसका अतिवादी छोर है। क्लैसिस्ट कवि रूप का प्रेमी होता है। वह अपने काव्य में परिपूर्णता की कल्पना साकार मूर्ति के सौन्दर्य में करता है।

रीतिवादी शैली के अन्तरगत केवल बाह्य रूपों और नियमों का अन्धानुकरण आता है। इसके विपरीत स्वच्छन्दतावादी शैली, रीतिवादी शैली के विरुद्ध एक विद्रोह है। इस शैली के ऊपर फ्रांसीसी राज्य क्रांन्ति और तत्कालीन जागरण युग का बड़ा प्रभाव पड़ा है। जिस प्रकार फ्रांस की राज्य-क्रान्ति ने सामन्तवादी समाज के प्राचीन रूढ़िबद्ध रूप को समाप्त करके एक नवीन समाज की रचना की। ठीक उसी प्रकार इस शैली के कवियों ने प्राचीन ग्रीक कला के वाह्य सौन्दर्य और रूढ़िगत नियमों को समाप्त करके एक अभिनव कला परिपाटी को जन्म दिया। उस शैली के अन्तरगत नवीन स्वच्छन्द काव्य प्रेरणाओं ने विद्रोहात्मक और आराजकतापूर्ण काव्य पद्धति का निर्माण किया है। आधुनिक युग की काव्य धारा का आधार यही रोमांटिक शैली है। यह काव्य धारा अत्यन्त अनियमित पद्धति एवं संयम रहित प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देती है। काव्य में भावना के अतिरेक से जो असंयम आता है, नियमों की जो अवहेलना की जाती है, काव्य के शरीरपक्ष की जो उपेक्षा की जाती है, वही रोमांटिक कविता का अतिवादी छोर है। रोमांटिक कवि क्लैसिक कवि की

भांति बाह्य सौन्दर्य एवं रूप और प्रेमी नहीं होता। उसकी प्रेरणा आन्तरिक होती है। वह रूप और अनन्त में रमता है। क्लैसिक कवि कला की परिपूर्णता साकार मूर्ति के सौन्दर्य में देखता है किन्तु रोमांटिक कवि अज्ञात परिपूर्णता का अभिलाषी होता है।

स्वच्छन्दतावाद में रीतिवाद अथवा परम्परावाद की भाँति वस्तु का उदात्त होना आवश्यक नहीं। साधारण वस्तु ही उसके अन्दर काव्यात्मक चित्रण बनने की क्षमता रखती है। इस काव्य-पद्धति के अनुसार काव्य में प्रयुक्त होने वाली भाषा और छन्दों का भी कोई बन्धन नहीं माना गया है। स्थिति और भाव के अनुरूप भाषा और छन्द भी विभिन्न रूपों वा साँचों में ढाले जा सकते हैं। आकृति का सौन्दर्य काव्य या कला की श्रेष्ठता की मापरेखा नहीं उसके अन्तर्गत भावाभिव्यञ्जना का भी महत्वपूर्ण स्थान है। यही रोमांटिसिज्म का आधार भूत सिद्धान्त है।

छायावाद और स्वच्छन्दतावाद

लोक प्रचलित भावों तथा शब्दों के वैभिन्य के कारण रहस्यवाद, छायावाद तथा स्वच्छन्दतावाद का नाम पर्याय रूप में न लेकर थोड़े-थोड़े अन्तर के साथ लिया जाता है यद्यपि उन्हें यदि एक काव्यधारा के रूप में देखा जाय तो नितान्त एकरूपता दिखलाई पड़ेगी। इन तीनों शब्दों की यद्यपि साहित्यिक प्रेरणा एक है फिर भी नाम भेद के कारण आये हुये अन्तर के मूल में कौन सी वस्तु है इसको जानने के लिये इनके परिस्थित जन्य विकास को जानना अति आवश्यक है। हिन्दी साहित्य के लिये रहस्यवाद शब्द छायावाद से प्राचीन है यद्यपि निराला जी छायावाद की उत्पत्ति का सूत्र पुराणों से जोड़ते हैं किन्तु छायावाद नाम से जानी जाने वाली कोई साहित्यिक विचारधारा पूर्व में नहीं थी जब कि रहस्यवाद के नाम पर जानी जाने वाली अनेक धारायें हमें पूर्व के साहित्य में मिल जाती हैं, भले ही उनका यह रूप न रहा हो जो आज हमारे सामने है। आज के रहस्यवाद शब्द से जो जाना जाता है पूर्व में नहीं जाना जाता था। पहले कबीर भक्त या संत इसे पराविद्या कहते थे परन्तु यदि आज के अर्थ में देखा जाय तो वह पराविद्या भक्ति से भिन्न है। वह तो रहस्यवादी कविता में ही मिलती है। इसमें प्रायः प्रतीक अपनाये जाते हैं। जैसे परम सत्ता को पारस कहा गया है। जायसी ने और आज के कवियों ने भी इस प्रतीक को यथावत् ग्रहण कर लिया है। कबीर ने उस परम सत्ता के लिये हीरे का रूपक बाँधा है। आज भी हीरे को परम सत्ता के स्वरूप में देखा जाता है। असीम को ससीम में सभी बांधना चाहते हैं। मनुष्य पूर्णता चाहता है। यह भावना पहले भी थी आज भी है और आगे भी रहेगी। किन्तु रहस्यवाद शब्द से आज जो अर्थ हम लेते हैं वह मूलतः आधुनिक काव्यधारा है जिसका अस्तित्व १९२० के पूर्व हिन्दी साहित्य में नहीं था। 'शुक्ल' जी ने तो काव्य में रहस्यवाद माना ही नहीं है और हजारी प्रसाद द्विवेदी ने तो कबीर तक में भी रहस्यवाद नहीं माना है। यह शब्द आरम्भ में उन कविताओं के लिये प्रयुक्त हुआ जिसमें अज्ञात सत्ता की झलक मिलती थी, जिनका चित्रण प्रतीकों के द्वारा होता था जिसे कभी छायावाद के नाम से पुकारा गया। सन् १९३० तक जाते-जाते अंग्रेजी साहित्य

का (Mysticism) शब्द हिन्दी के रहस्यवाद के लिये रूढ़ि हो गया और रोमांटिसिज्म के लिये छायावाद शब्द प्रयुक्त होने लगा। छायावाद शब्द का प्रयोग जिन अर्थों में हुआ वह एक बहुत बड़ी काव्यधारा है जिसमें रहस्यवाद एक प्रवृत्ति या मनोवृत्ति विशेष हैं।

जिस रोमांटिसिज्म के लिये हिन्दी साहित्य में छायावाद शब्द का प्रयोग हुआ वह नामकरण अत्यन्त भ्रामक है क्योंकि वह नाम इसके समर्थकों का नहीं बल्कि विरोधियों का दिया हुआ है, जो इसे केवल आडम्बर तथा कुछ चुने चुनाये शब्दों का झूठा व्यापार मानते थे। यह प्रवृत्ति बंगला साहित्य में हिन्दी साहित्य से पहले आयी जिसकी छाया आगे चलकर हिन्दी साहित्य पर पड़ी। इसके अतिरिक्त इस प्रकार की कविताओं में कुछ कल्पना, रहस्य तथा छाया आदि की ऐसी अस्पष्ट अभिव्यक्ति पाई जाती थी कि इसे लोगों में तदनुकूल नाम से सम्बोधित करना आरम्भ कर दिया और वह छायावाद के नाम से एक विशिष्ट साहित्यिक विचार धारा बन गई। इस शब्द के सम्बन्ध में सभी विद्वान एक मत नहीं हो पाये हैं। कुछ विद्वानों का कथन है कि छायावाद आध्यात्मिक भूमि पर क्रीड़ा करता है जिससे रहस्यवाद के साथ इसका अभेद दिखाई पड़ता है। रामचन्द्र जी शुक्ल इसे चित्र भाषा शैली मानते रहे। इस प्रकार इसे यदि शैली मात्र मान लिया जाय तो इसका सम्बन्ध रहस्यवाद तथा स्वच्छन्दवाद किसी के भी साथ जोड़ा जा सकता है। छायावाद मुख्यतः भाव प्रबलता से प्रेरित कल्पना प्रवण अन्तर दृष्टि है जो वास्तविक को नहीं बल्कि छाया को ग्रहण करता है। यह रूढ़ियों से ऊपर उड़ान भरने का अवसर प्रदान करता हैं। यह उन्मुक्त उड़ान भरने वाला साहित्य है जो वर्तमान से अतीत और भविष्य तथा धरती से आकाश की ओर ले जाता है और साथ ही एक सुनहले भविष्य की कल्पना भी करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस उद्देश्य को लेकर स्वच्छन्दतावादी विचारधारा का हिन्दी साहित्य में जन्म हुआ था उसकी किसी न किसी अंश में पूर्ति छायावाद के द्वारा होती है। छायावाद शैली तथा कोमलता को अत्यधिक महत्व देने के कारण स्वच्छन्दतावादी साहित्य के सम्पूर्ण क्षेत्र को तो नहीं समेट पाता किन्तु अपने क्षेत्र में यह अत्यन्त सच्चा और ईमानदार समर्थक है।

स्वच्छन्दतावादी शैली ने एक विद्रोहात्मक और अराजकतापूर्ण काव्य पद्धति का निर्माण किया है। यह अत्यन्त अनियमित पद्धति एवं संयम रहित प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देती है। काव्य में भावना के अतिरेक से जो असंयम आता है, नियमों की जो अवहेलना की जाती है, काव्य के शरीर पक्ष की जो

पूर्ण उपेक्षा की जाती है वही स्वच्छन्दतावाद का अतिवादी छोर है। जिसके सम्पन्न होने में छायावाद का महत्वपूर्ण योग है क्योंकि इसका जन्म द्विवेदी जी की इति वृत्तात्मक शैली की प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ था। इस प्रकार यह शब्द बराबर रहस्यवाद और स्वच्छन्दतावाद से टकराता रहता है। यदि हम इसका निर्णय कर लें कि छायावाद की वास्तविक भाव-भूमि लौकिक है अथवा अलौकिक तो समस्या कुछ सरल अवश्य हो जायेगी। छायावाद को रहस्यवाद से सम्बद्ध करना कहाँ तक उचित है और कहाँ तक अनुचित है और अगर उचित है तो क्या यह रहस्यवादी प्रवृत्ति कबीर और जायसी की परम्परा का अनुसरण है अथवा पाश्चात्य (Mysticism) की गूँज मात्र। छायावाद के सम्बन्ध में दो मत प्रचलित हैं। जो मत अध्यात्मिक व्याख्या का पक्षपाती है उसने छायावाद को रहस्यवाद का प्रथम सोपान माना है और दोनों की अभिन्नता का इस सीमा तक सांगोपांग प्रतिपादन किया है कि सहसा विश्वास ही नहीं हो पाता। इस मत को गम्भीरता पूर्वक स्थापित करने का सबसे अधिक श्रेय महादेवी जी को है। उन्होंने अपने विवेचनात्मक गद्य मे पग-पग पर इसका समर्थन ही नहीं किया है वरन् शास्त्रीय आधार लेते हुए एक सुदृढ़ परम्परा तथा व्यापक जीवन दर्शन निर्मित करने का भी प्रयास किया है। उन्होंने माना है कि 'अलौकिक रहस्यानुभूति भी अभिव्यक्ति मे अलौकिक ही रहेगी। अलौकिक आत्म-समर्पण को समझने के लिए भी लौकिक का सहारा लेना होगा।' इसके अतिरिक्त महादेवी जी ने इसे निराशा एवं दुख की मनोवृत्ति की व्यक्तिगत असफलताओं से उत्पन्न विषय मात्र न मानकर उस करुणा की कोटि में स्थित कर दिया है जहाँ वह सर्वात्मवाद बन जाती है, जिससे 'छायावाद को दुखवाद का पर्याय समझ लेना सहज हो गया है। जहाँ तक दुख का सम्बन्ध है उसके दो रूप हो सकते हैं—एक जीवन की विषमता की अनुभूति से उत्पन्न करुणा-भाव दूसरा जीवन के स्थूल धरातल पर व्यक्तिगत असफलताओं से उत्पन्न विवाद।' व्यक्तिगत सुख-दुख की मार्मिक अभिव्यक्तियों का आकर्षण ही उसे इतना लोकप्रिय बना सका है, सर्वात्मवाद तथा पराविद्या का घटाटोप नहीं। आगे चलकर जब महादेवी जी यह भी स्वीकार कर लेती हैं कि 'छायावाद तत्वतः प्रकृति के बीच में जीवन का उद्घोष है' तो इसकी अलौकिकता कहाँ रह जाती हैं। अभिव्यक्ति के लिये वर्ण्य वस्तु को प्रधानता न देकर प्राकृतिक तत्वों में मानवीय चेतना का आरोप करना तथा उनसे साहचर्य का भाव स्थापित करना हिन्दी साहित्य के लिये स्वच्छन्द-वादी काव्यधारा की ही देन है। जब महादेवी जी अन्त तक जाते-जाते यह

स्वीकार ही कर लेती हैं कि जिस सूक्ष्म छायावाद ने अभिव्यक्ति प्रदान की वह स्थूल से बाहर अपना कहीं अस्तित्व नहीं रखता तब यह स्थूल व्यक्त सत्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और जब छायावाद के अन्दर अव्यक्त सत्य की अभिव्यक्ति होती है तो उसके अन्दर कुछ होने की भावना छिपी रहती है और यही होने की भावना, जिसके मूल में वर्तमान के प्रति असन्तोष तथा विरोध है, स्वच्छन्दतावादी काव्य का केन्द्र बिन्दु है।

छायावाद की परिभाषा करते हुए जब डा० रामकुमार वर्मा यह कहते हैं कि 'छायावाद वास्तव में हृदय की एक अनुभूति है, वह भौतिक संसार के क्रोड़ में प्रवेश कर अनन्त जीवन के तत्व ग्रहण करता है और उसे हमारे वास्तविक जीवन से जोड़कर हृदय में जीवन के प्रति एक गहरी संवेदना और आशावाद प्रदान करता है। कवि को ज्ञात होता है कि संसार में परिव्याप्त एक महान् और दैवी सत्ता का प्रतिबिम्ब जीवन के प्रत्येक अङ्ग पर पड़ रहा है और उसी की छाया में जीवन का पोषण हो रहा है। एक अनिर्वचनीय सत्ता कण-कण में समाई हुई है। फूल में उसी की हँसी, लहरों में उसका बाहु-बन्धन, तारों में उसका संकेत, भ्रमरों में उसका गुंजार और मुख में उसकी सौम्य हँसी छिपी हुई है। इस संसार में उस दैवी सत्ता का दिग्दर्शन कराने के कारण ही इस प्रकार की कविता को छायावाद की संज्ञा दी गयी।'[1] तो यह स्पष्ट हो जाता है कि डाक्टर साहब रहस्यवाद और छायावाद में भेद नहीं मानते। सृष्टि की हरएक गतिविधि में जब वे दैवी सत्ता का अनुभव करते हैं तो उसे रहस्यवाद के अन्दर ही स्वीकार करना चाहिये। उनके अनुसार यदि रहस्यवाद का नाम ही छायावाद है तो छायावादी साहित्य के अन्दर आनेवाली सभी रचनाओं को दैवी सत्ता से सम्बन्धित मानना चाहिये अथवा रहस्यवाद को ही पराविद्या के पद से सम्बन्धित कर देना चाहिये। शुद्ध रहस्य-वाद को न तो हम लौकिक कह सकते हैं और न तो छायावाद को हम नितान्त अलौकिक। ऐसी स्थिति में लौकिकता और अलौकिकता को लेकर काफी भ्रम उत्पन्न हो जाता है। डा० वर्मा ने जिस साहित्य को रहस्यवाद के अन्दर स्वीकार किया है वह कबीर और जायसी का रहस्यवाद नहीं बल्कि वह आधुनिक रहस्यवाद है जिसके द्वारा कवि वर्तमान परिस्थितियों के प्रतिकूल खुला विद्रोह न करके रहस्यात्मक संकेतों द्वारा युग की आवश्यकताओं तथा वैयक्तिक अनुभूतियों को लोगों की आँखें बचाकर सामने रखता है। इस प्रकार

---

१. डा० रामकुमार वर्मा, विचारदर्शन, पृ० ७२।

यदि रहस्यवाद और छायावाद की अभिन्नता स्वीकार कर ली जाय तो इसके लौकिक होने की सन्दिग्धता समाप्त हो जाती है और जब इसकी लौकिकता प्रमाणित हो जाती है तो इसे शास्त्रीय नियमों की उपेक्षा करने के कारण स्वच्छन्दवादी साहित्य के नाम से अभिहित ही करना पड़ेगा।

छायावादी साहित्य के अन्दर व्यक्ति के दैनिक जीवन को अत्यधिक महत्व दिया गया है। साहित्य में जग-जीवन की महत्ता एवं इस लोक में ही स्वर्ग प्राप्ति की कामना को बल सर्वप्रथम स्वच्छन्दवादी कवियों द्वारा ही मिला क्योंकि श्रेष्ठतर जीवन की कल्पना तथा परिस्थितियों के प्रति असन्तोष की भावना से प्रेरित होकर समस्त शास्त्रीय एवं सामाजिक बन्धनों के तिरस्कार का उद्घोष करने वाला साहित्य प्रस्तुत करने का कार्य इन्हीं कवियों द्वारा हुआ। यह भाव धारा कवि की सामर्थ्य तथा रुचियों के अनुसार रंग-रूप बदलकर आगे बढ़ती रही है जिसे कहीं रहस्यवाद और कहीं छायावाद के नाम से पुकारा गया है किन्तु सबके मूल में प्राचीनता के ऊपर नवीनता का आरोप तथा वर्तमान हीनतर बन्धनों से मुक्त होकर श्रेष्ठतर स्वच्छन्दाकाश में विचरण करने के भाव विद्यमान हैं।

प्रसाद जी के स्वर में स्वर मिलाकर यदि हम कहें कि 'कविता के क्षेत्र में पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश-विदेश की सुन्दरी के बाह्य वर्णन से भिन्न जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी, तब हिन्दी में उसे 'छायावाद' के नाम से अभिहित किया गया।' तो स्पष्ट हो जाता है कि छायावादी काव्य की सृष्टि रीतिकालीन शृंगारिक कविताओं के प्रतिक्रिया स्वरूप हुई थी। किन्तु प्रमुख छायावादी कविताओं को देखने से लगता है कि प्रतिक्रिया शृंगारिकता के विरुद्ध नहीं हुई बल्कि रचना प्रक्रिया के विरुद्ध हुई। इस रचना प्रक्रिया का विरोध करने का श्रेय एकमात्र छायावादी काव्यधारा को ही नहीं है बल्कि महावीर प्रसाद जी द्विवेदी की प्रेरणा से जो समसामयिक भाव धारा को लेकर काव्य का आन्दोलन चला था उसको भी है। इन काव्यों में अश्लील शृंगार की उपेक्षा अवश्य की गयी है क्योंकि इन कविताओं में न तो नायिकाओं की शारीरिक नाप जोख ही है और न तो वैयक्तिक मानसिक वेदना की ऊहापोह ही। इसका मुख्य कारण यही है कि इस खेवे के कवियों ने तत्कालीन सामाजिक वातावरण, राजनीतिक जागरण तथा सुधारवादिता की आवश्यक माँगों से आँखें नहीं मूँदी हैं बल्कि अपनी रचनाओं द्वारा समुचित योग प्रदान किया है। किन्तु शृङ्गारिकता की शाश्वत भावनाओं को अनिश्चितकाल तक दबाये रखना भी सम्भव नहीं और न तो यही सम्भव था कि जब स्वतन्त्रता की वेदी पर

बलिदान होने के लिये सपूतों का आहवान किया जा रहा हो, देश के शीर्षस्थ नेता तथा सुधारक राष्ट्र और समाज को एक नवीन स्वरूप-प्रदान करने के लिये प्राणों की बाजी लगा रहे हों तथा सारे देश के अन्दर क्रांति की लहर व्याप्त हो रही हो, तो ऐसे युग का कवि कोने में बैठकर वैयक्तिक वासना से उद्भूत मानसिक वेदना की कसक और पीर की कहानी कहकर समाज के सामने मुँह दिखाता। किन्तु वह शृङ्गारी भावना कविताओं में अपना रङ्ग-रूप बदल कर नवीन श्रद्धा के साथ प्रकट हुई जिसमें रीतिकालीन नायक-नायिकाओं के स्थान पर कवि स्वयं प्रेमी बनकर मैदान में उतर पड़ा वह दर्शक अथवा द्रष्टा नहीं रह गया। ऐसी ही कविताओं को छायावाद का मूलाधार माना गया है जो वास्तव में वैयक्तिकता के आग्रह की अपेक्षा और कुछ नहीं है। इतना अवश्य है कि इनका विद्रोह सर्वोन्मुखी न होकर व्यक्तिवादी हो उठता है। इस प्रकार यदि काव्य की स्वच्छन्दधारा के अङ्ग विशेष का ही इनसे पोषण होता है तो उन्हें स्वजातीय होने से रोका नहीं जा सकता बल्कि उन्हें विशेषज्ञ होने का सा समादर मिलना आवश्यक है। यदि रीतिकाल का कवि नायक के माथे पर लगे हुए सिन्दूर और बिन्दी का वर्णन करके घोर शृंगारी कहा जा सकता है तथा पलकों में पान की पीक तथा होठों में काजल की कालिख का चित्रण करके अश्लील कहा जा सकता है तो क्या श्रम सीकरों से सफेद चादर भिगों देने वाला कवि अश्लील नहीं है।

थक जाती थी सुख रजनी
मुख चन्द्र अंक में होता।
श्रम सीकर सदृश्य नखत से
अम्बर पट भींगा होता॥

—आँसू : जयशंकर प्रसाद

अन्तर इतना ही है कि रीतिकालीन कवि को वह साहस नहीं मिला था जो कि आधुनिक कवि को मिला है। वह अपनी भावनाओं को व्यक्त करने के लिए नायक नायिकाओं का सहारा लेता था किन्तु आज का कवि अपनी भावनाओं को खुलकर व्यक्त करने में जरा भी नहीं हिचकता। इसका एकमात्र कारण समाज में बढ़ती हुई वैयक्तिकता की भावना ही है जिससे वर्तमान स्वच्छन्दतावादी साहित्य ओतप्रोत है।

प्रसाद जी ने यद्यपि अपने काव्य में अनेक स्थलों पर रहस्यात्मकता का आश्रय लिया है परन्तु सिद्धान्ततः छायावाद को उन्होंने न रहस्यवाद से सम्बद्ध किया है न प्रकृतिवाद से बल्कि उनमें उनका व्यक्तित्व ही अधिक उभड़ा हुआ

दिखाई पड़ता है। छायावाद की प्रारम्भिक कविताओं पर आध्यात्मिकता का पूरा-पूरा आवरण नहीं चढ़ पाया था जिससे इसकी भाव-भूमि को परखने में शुक्ल जी को भ्रम नहीं हुआ उन्होंने लिखा है 'प्रणय-वासना का यह उद्‌गार आध्यात्मिकता के परदे में ही न छिपा रह सका, हृदय की सारी कामवासना में इन्द्रियों के सुख विलास की मधुर और रमणीय सामग्री के बीच एक बँधी हुई रूढ़ि व्यक्त होने लगी..... शैली के सम्बन्ध में भी प्रतीकवाद के अर्थ में होने लगा। रीतिकाल की शृंगारिक कविता की भरमार की तो इतनी निन्दा की गई पर वही शृंगारिक कविता कभी रहस्य का परदा डालकर, कभी खुले मैदान, अपनी कुछ अदा बदलकर फिर सारा काव्य क्षेत्र छोड़कर चल रही है।'

इन्होंने भाव पक्ष को गौण और शैली पक्ष को प्रधान माना है, परन्तु वास्तव में शैली-पक्ष प्रधान नहीं है। यही मन की सबल-भावुक-अभिव्यक्ति ही इसे स्वच्छन्द काव्य के निकट लाती है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने छायावादी काव्य की जो तीन अवस्थायें स्वीकार की हैं (१) सृष्टि के प्रति विस्मय का भाव, (२) मानसिक अशान्ति की आकुलता का आभास, (३) प्रेम के प्रकाश की प्राप्ति। ये तीन अवस्थाएँ, जो छायावाद की चरम परिणत हैं, स्वच्छन्दतावादी काव्य की मूल प्रेरक शक्ति हैं। बिना विस्मय के भाव का सहारा लिए कौतूहल एवं जिज्ञासा के भाव उत्पन्न नहीं होंगे, तब तक वर्तमान के प्रति अनास्था के भाव, जिसके आधार पर ही स्वच्छन्दतावादी काव्य की सृष्टि होती है, जम नहीं सकते। मानसिक अशान्ति की आकुलता ही अभिव्यक्ति का वह सबल स्रोत है जिसका प्रवाह शास्त्रीय एवं परम्परित रूढ़ियों को तोड़कर अपना नवीन पथ निर्मित करता है।

जब हम यह स्वीकार करते हैं कि 'छायावाद की काव्यधारा एक ओर वर्तमान के प्रति विद्रोह एवं असंतोष की भावना से मुखर है तो दूसरी ओर स्थूल एवं वासनात्मक प्रेम से हटकर सूक्ष्म और अतीन्द्रिय प्रणय की रागिनी सुनाती है। उसे प्रकृति में भी चेतन सत्ता के सौन्दर्य का आभास मिलता है, आकाश के अनन्त झिलमिल तारों में उस अनन्त-अलक्षित ज्योति का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है। वह स्थूल के प्रति विद्रोही है, वर्तमान के प्रति विद्रोही है, रूढ़िगत बन्धनों के प्रति विद्रोही और साम्राज्यवाद के दमन-पूर्ण अत्याचारों के आघात से दुखी है। समाज की कुरीतियों से, छुआछूत की भावना से, स्त्रियों, विशेषतः विधवाओं के प्रति समाज में प्रचलित क्रूरताओं से करुणाद्र है'।[1]

---

१. हीरक-जयन्ती ग्रन्थ—सम्पादक डा० श्री कृष्णलाल, करुणापति त्रिपाठी, पृ० ३७७।

तो छायावाद, रहस्यवाद और स्वच्छन्दतावाद में कोई भेदक रेखा खींची ही नहीं जा सकती और यदि उदारवादी दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो ये भ्रम में डालने वाले पर्यायवाची शब्द ही ठहरते हैं। साहित्य में वह युग सबसे उत्तम समझा जाता है, जब मनुष्य असन्तुष्ट रहता है, जब वह ससीम से असीम की ओर उन्मुख होता है तो इसका अर्थ यही होता है कि वर्तमान परिस्थितियों में उसका दम घुट रहा है और वे उसे अमान्य हैं। इसे हम रहस्यवाद का मूलाधार भले ही कह लें, किन्तु इसके मूल में असन्तोष के भाव विद्यमान हैं। 'ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे-धीरे' ऐसी कविताओं को लेकर पलायनवादिता के नाम से संघर्ष-भीरुता का आरोप लगाया जा सकता है तो 'इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रान्त-भवन में टिक रहना और पहुँचना उस सीमा तक जिसके आगे राह नहीं' जैसी कविताओं को लेकर उसे उद्‌बोधन-गीत का सम्मान भी दिया जा सकता है। बात समझ में नहीं आती कि यदि छायावादी कविताओं में उद्‌बोधन, देशभक्ति, प्रकृति-प्रेम तथा वर्तमान के प्रति विद्रोही भाव वर्तमान हैं तो वह कौन-सा ऐसा भेदक तत्व है जो उसे स्वच्छन्दवादी काव्य-धारा से भिन्न करता है।

डा० नगेन्द्र ने तो छायावाद को रोमानी कविता से बिलकुल अभिन्न माना है। उनके अनुसार छायावाद रोमानी कविता को छोड़ कर और कुछ नहीं, दोनों के मूल में जागरण और कुण्ठा के भाव निहित हैं। उन्होंने पहले छायावाद का आधार स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह माना है फिर उन्होंने शब्दावली बदल दी और उसके मूल में स्थूल से विमुख होकर सूक्ष्म के प्रति आग्रह करना अधिक उपयुक्त समझा। जहाँ तक भावभूमि का सम्बन्ध है उन्होंने नितान्त लौकिक माना है और लिखा है कि 'छायावाद के कवि की प्रेरणा उसकी 'कुण्ठित-वासनाओं से ही आई है, सर्वात्मवाद की रहस्यानुभूति से नहीं।' जब छायावादी कविता चुम्बन-विहीन प्यासे अधरों से ही उच्छ्वसित होती है तो उसमें असन्तोष के सिवा और हो ही क्या सकता है। असन्तोष से पूर्ण कविता को यदि हम स्वच्छन्दवादी कविता से अलग छायावादी कविता मान लें तो स्वच्छन्दतावादी काव्य की परिभाषा क्या होगी। शिवदान सिंह चौहान ने छायावादी काव्य के लिये असन्तोष की प्रवृत्ति के साथ पलायन की प्रवृत्ति पर ही विशेष बल दिया है, परन्तु पलायन छायावादी भावधारा का मूल आधार नहीं है जिस पर डा० नगेन्द्र और महादेवी दोनों ने संकेत किया है। डा० देवराज ने निम्न लिखित शब्दों में उसका सतर्क प्रतिवाद किया है 'वस्तुतः छायावादी काव्य की प्रेरक शक्ति प्रकृति के कोमल सूक्ष्म रूपों का आकर्षण है

न कि सामाजिक वास्तविकता का विकर्षण, उसके मूल में प्रेम और सौन्दर्य की वासना है, न कि आध्यात्मिक पूर्णता की भूख।' इन्होंने छायावाद को आध्यात्मिक नहीं माना है। और कहा है कि 'प्रथम तो हम मानते हैं कि छायावादी काव्य धार्मिक या आध्यात्मिक नहीं हैं किन्तु वह यदि ऐसा होता तो इस धर्म प्राण देश में जनता उससे इतनी जल्द न ऊबती'।

परन्तु छायावादी काव्य में व्यक्त भावों को प्रकृत रूप में न देखकर दमिति-वासनाओं के रूप में देखना, फूल में खाद देखना है। हाँ, वे आकाश कुसुम नहीं, धरती के ही कुसुम हैं। जहाँ तक इससे जनता के ऊबने की बात उन्होंने कही है उसके मूल में धार्मिक और अधार्मिक होने के कारण ही नहीं बल्कि वे परिस्थितियाँ हैं जो मानव मन को स्थिर नहीं रहने देतीं जिससे उसके दैनिक जीवन में कटुता, निराशा तथा असन्तोष के भाव हावी हो गये हैं। डा० केशरी नारायण शुक्ल ने अपनी पुस्तक 'काव्य धारा' में स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है 'रूढ़ियों के विरोध में खड़े होने वाले स्वच्छन्दतावाद (रोमांटिसिज्म) और छायावाद (रोमांटिसिज्म) को एक ही मानना चाहिये।' यही कारण है कि उन्होंने छायावादी काव्य की कोई दार्शनिक पृष्ठभूमि नहीं स्वीकार की है। प्रामाणिक रूप से सशक्त शब्दों में छायावाद और स्वच्छन्दतावाद के दोहरे व्यक्तित्व की निस्सारता सर्व-प्रथम डा० श्रीकृष्णलाल द्वारा 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' नामक ग्रन्थ में प्रकट की गयी जिसका यह परिणाम हुआ है कि अब बहुत से विद्वान् इस शब्द की भ्रामकता का अनुभव करने लगे हैं। छायावाद के सम्बन्ध में जब श्री शम्भूनाथ सिंह जी यह स्वीकार करते हैं कि 'भारत में भी पूँजीवाद के विकास के साथ व्यक्तिवाद का विकास हुआ और हिन्दी कविता में छायावाद के रूप में व्यक्तिवादी भावनायें अनेक रूपों में अभिव्यक्त हुईं।'[1] तो क्यों इसकी बहुमुखी धारा को एक ऐसे शब्द 'छायावाद' के गले लगा दिया जाय जो इसकी सार्थकता को प्रकट करने में असमर्थ है। जब हम यह मानते हैं कि 'छायावाद भी साहित्यकार का एक अन्तर्वादी दृष्टिकोण है, जहाँ से वह समस्त जीवन, उसके यावत् रूप-व्यापार को 'स्वानुभूतिक' अभिव्यंजना प्रदान करता है।'[2] तो समस्त जीवन की इस व्यापक स्वानुभूतिमयी अभिव्यंजना को हम 'छाया' में ही क्यों रखें जिसको कवि ने निःसंकोच, स्वच्छन्द होकर कह डाला है।

---

१. छायावाद युग, पृ० ५२, शम्भूनाथ सिंह।

२. 'छायावाद की काव्य साधना, प्रो० क्षेम, पृ० १२२।

एक तटस्थ आलोचक के लिये यह कह देना कभी भी श्रेयष्कर नहीं कहा जा सकता कि 'जिस तरह अन्य साहित्यों में अनेक प्रवृत्तियों के पुञ्ज रोमांटिक काव्य को एक संज्ञा 'रोमांटिसिज्म' दे दी गयी है, उसी तरह अनेक प्रवृत्तियों के पुञ्ज छायावादी काव्य को भी एक नाम देना चाहिये।' नाम देने के पहले जब उसे एक नाम से अभिहित कर दिया गया तो पुनः नाम देने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती और नाम देते समय भरसक यह प्रयत्न करना चाहिये कि नाम गुण के अनुसार हो। यदि शब्दकोष असमर्थ हो जाय तो विवश होकर परिचय प्राप्त करने के लिये किसी भी वस्तु को किसी भी नाम से पुकार सकते हैं। किन्तु जब युग के अनुसार हमें नाम मिल जाते हैं तो अनर्गल नाम रख देने की क्या आवश्यकता है। जिस काव्य-धारा को हम छायावाद मान लेने का आग्रह करते हैं यदि उसके व्यापक क्षेत्र को समेटने वाला 'स्वच्छन्दतावाद' ऐसा कोई शब्द उपलब्ध है तो उसे मानने में तो किसी को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये जब कि तद्वत् स्वभाव के साहित्य के लिये यह शब्द अपने पीछे अंग्रेजी साहित्य में एक विशाल काव्य-परम्परा रखता है जिसके प्रभाव को हम पूर्णतः अस्वीकार भी नहीं कर पा रहे हैं।

जिन कवियों एवं कविताओं को हम 'छायावाद' के स्तम्भ मानते हैं यदि उनकी विवेचना की जाय तो उसमें वे सभी गुण दिखाई पड़ेंगे जो एक स्वच्छन्दतावादी काव्य के लिये अपेक्षित हैं। जब हम यह मानते हैं कि आधुनिक युग में ऐसी बहुत सी कवितायें मिल जायेंगी जिनमें एक साथ ही छायावादी रहस्यवादी एवं स्वच्छन्दतावादी काव्य की प्रवृत्तियाँ मिल जायँगी, तो हम क्यों न एक ऐसे नाम से उसे अभिहित करें जिसके अन्दर उक्त सभी भावधारायें सिमट कर चली आयें। ऐसी कवितायें यदि हमें देखनी हों तो पं० सुमित्रानन्दनपन्त की 'मौन निमन्त्रण' कविता हम देख सकते हैं। कवि जब प्रकृति में एक रहस्यमय आकर्षण का अनुभव करने लग जाता है और एक करुण विस्मय में विभोर होकर कह उठता है—

क्षुब्ध जल शिखरों को जब बात
.....
उठा तब लहरों से कर मौन
न जाने मुझे बुलाता कौन।

तो हमारे सामने उक्त समस्या से उक्त कविता अवतरित होने लग जाती है। जिस कविता के अन्दर समस्त शास्त्रीय परम्पराओं का तिरस्कार हो, स्थूलता

के प्रति सूक्ष्मता का विद्रोह हो, एक अनन्त अभिलाषा एवं जिज्ञासा का भाव हो, दम घुटा देनेवाली परिस्थितियों को बदल देने की कामना हो, भावी श्रेष्ठतर जीवन को प्राप्त करने की कल्पना हो, निरन्तर आगे बढ़ते रहने की इच्छा हो, समीमता को असीमता में बदल देने की चाह हो तथा अपनी वैयक्तिक अनुभूति को निःसंकोच व्यक्त कर देने की शक्ति हो, वह स्वच्छन्दवादी कविता को छोड़ कर और कुछ हो ही नहीं सकती। यदि 'छायावादी' अथवा रहस्यवादी कही जाने वाली कवितायें उक्त गुणों से सम्पन्न हैं तो वे स्वच्छंदवादी कविताये हैं और 'छायावाद' स्वच्छन्दतावाद का एक अङ्ग या पर्याय है।

रोमांटिक कविता और प्रेम

प्रेम सृष्टि की चिरन्तन आदि शक्ति है। यह यद्यपि हृदय की एक अत्यन्त सूक्ष्म वृत्ति है, परन्तु मानव जीवन में उसकी व्यापकता के सम्बन्ध में दो मत हो ही नहीं सकते। साधारणतः प्रेम से जो अर्थ हम लगा लेते हैं, वह है स्त्री और पुरुष का पारस्परिक प्रेम जो रूपाकर्षण के माध्यम से उत्पन्न होता है तथा जिसके मूल में वासनाजन्य शारीरिक भूख विद्यमान रहती है। प्रेम मानव-मन की वह स्वाभाविक स्वच्छन्द वृत्ति है जो प्रकृति या सामाजिक बन्धनों को स्वीकार करना नहीं चाहती परन्तु समाज ने अपनी मर्यादा की रक्षा के लिये देश-काल तथा परिस्थितियों के अनुसार उस पर नैतिक बन्धन डाल रखे हैं। काम मनुष्य जीवन की मूल वृत्ति है और इसे ही लौकिक भाषा में प्रेम के नाम से अभिहित किया जाता है। भारतीय संस्कृति ने समाज के सामने व्यक्ति के त्याग को अत्यधिक महत्व न देने कारण, प्रेम को व्यक्ति की वस्तु नहीं बल्कि समाज की वस्तु माना है जिसके आधार पर ही विवाह व्यवहार शास्त्र की व्यवस्था की गयी है। यही कारण है कि प्राचीन भारतीय साहित्य के अन्दर उन्हीं प्रेम प्रसंगों की चर्चा की गयी है जिनका अन्त विवाह में हुआ है। परिणय से वंचित प्रणय को समाज के लिये सर्वथा अस्वीकार किया गया है। नैतिक प्रेम प्रसंगों के लिये भी समय, स्थिति तथा स्थान की एक निश्चित व्यवस्था पूर्ववर्ती आचार्यों ने स्वीकार की है। परन्तु जहाँ तक शुद्ध कला का सम्बन्ध है, वह सामाजिक मान्यताओं को उतना स्वीकार नहीं करती जितना कि वह स्वाभाविकता के निकट है। संसार का कोई भी साहित्य ऐसा नहीं रहा है जिसने प्रेम को महत्वपूर्ण स्थान न दिया हो। प्रेम कविता की सबसे महान् प्रेरक शक्ति रही है। भले ही युग के अनुसार उसके रूपों में परिवर्तन होते रहे हों।

फ्रायड के समर्थक भले ही यह स्वीकार कर ले कि मनुष्यों की प्रत्येक क्रिया में काम की मूलप्रेरणा रहती है, किन्तु व्यावहारिक जीवन में हम यह भली प्रकार देखते हैं, कि हमारे अनेक कार्य ऐसे होते रहते हैं जिनमें वासना की गन्ध भी नहीं दिखाई पड़ती। कविता के अन्दर भी प्रेम के मुख्य तीन स्वरूप ऐसे रहे हैं जिनको कवियों ने अपनी कविता का मुख्य विषयवस्तु बनाया है।

यों तो नाना प्रकार से प्रेम की अभिव्यक्ति हुई है किन्तु लौकिक, पारलौकिक तथा प्राकृतिक दृश्यों के प्रति कवियों का आकर्षण विशेष रहा है।

लौकिक और पारलौकिक प्रेम की व्याप्ति समस्त साहित्य में और समस्त युग में है। इतना अवश्य हुआ है कि समसामयिक परिस्थितियों के अनुरूप प्रेम का स्वरूप बदलता रहा है तथा उसकी अभिव्यक्ति में भेद आता रहा है। 'हिन्दी के शैशव के उस पूर्व मध्य युग में जब कवि वीरगाथाओं के द्वारा अन्त र्युद्ध (Civilwar) में व्यंजित शौर्य के साथ प्रेम का पुट देते थे तब प्रेम का तत्व उन रोमांचक वीरगाथाओं में ही सम्मिश्रित हो जाता था। इसका कारण यही था कि मुख्यतः वह युग युद्ध और संघर्ष का था।' प्रेम का प्रसंग कवि गण उसी समय ला सकते थे जब कि उनका आश्रय दाता राजा किसी राजकुमारी के रूप-गुण पर मुग्ध होकर ही प्राप्तार्थ युद्ध करने के लिये प्रेरित होता था। ऐसी स्थिति में जिज्ञासा बढ़ाने के लिये प्रेम की नहीं बल्कि शृङ्गार का ही वर्णन अधिक किया जाता था। प्रायः लोग प्रेम और शृङ्गार को एक ही वस्तु मान बैठते हैं किन्तु दोनों दो वस्तुएँ हैं, एक नहीं। प्रेम केवल वैयक्तिक अनुभूति है जिसमें अन्तर साक्ष्य है किन्तु शृङ्गार बाह्य अनुभूति है जिसमें बाह्य साक्ष्य है और उसे हम आँखों से देख सकते हैं। यह दूसरी बात है कि शृंगार के प्रति लोगों के दृष्टिकोण भिन्न हों। अतः कवि प्रेम की अभिव्यक्ति जितनी सफलता से कर सकता है उतनी सफलता से कलाकार एवं तटस्थ द्रष्टा नहीं। वीरगाथा काल में प्रेम की जो लौकिक अभिव्यक्ति पाई जाती है वह लौकिक शृंगार का ही वर्णन है। भक्ति युग तक आते-आते समाज की स्थिति में महान् परिवर्तन उपस्थित हो गया। न तो अपने देश के आश्रयदाता राजा रहे और न अपने देश की राजनीति।

जिस युग को हम साहित्य का भक्ति-युग कहते हैं वह ऐसा समय था जब कि भारतीय राजनीति तथा शासन-नीति का संचालन विदेशी यवनों के हाथ में था भारतीय जनता के लिए कोई ऐसी वस्तु नहीं थी जिस पर कि वह गर्व कर सके जिसका परिणाम यह हुआ कि जितना भी बाह्य चमत्कार तथा प्रदर्शन था सब पर एक प्रकार से निराशा का वातावरण छा गया। मुसलमान शासकों ने सबसे अधिक छीना झपटी जिस वस्तु पर की वह है रूप और धर्म। यवन शासन में भारत के आ जाने से देश का धन तो उनके हाथों में चला ही गया था, रूप पर हाथ मार कर वे अपनी काम पिपासा शांत करना चाहते थे तथा धर्म को मिटाकर अपने प्यारे मजहब इस्लाम का प्रचार करना चाहते थे। जिससे ऐसी स्थिति आ गयी थी कि अधिक से

अधिक इन वस्तुओं को छिपाकर रखा जाय। अतः स्वभाविक ही था कि इस युग के कवि रूप आदि, जो आकर्षण के बाह्य चमत्कार हैं, के वर्णन से विमुख रहते। प्रेम, जो कि प्रकृति का शाश्वत तत्व है, प्रकट होने के लिये सहारा ढूढ़ने लगा और असहाय समाज अपनी स्थिति को सुरक्षित रखने के लिए आश्रयदाता। दोनों को वाणी देने वाले कवियों ने भगवान की शरण ली जिससे प्रेम भावना भक्ति के रूप में बदल गयी और राजाओं के स्थान पर आश्रय दाता हुआ भगवान, जिसकी वन्दना के अनेक मार्ग निकल पड़े। "भक्तियुग के कवियों का प्रेम-भाव ईश्वर की भक्ति में पर्यवसित हो गया। उस समय के भक्त और संत कवियों ने अपनी प्रेम-भावना का उन्नयन किया था भक्ति भावना में। भक्त कवियों में शृंगार वर्णन प्रस्तुत तो अवश्य है, परन्तु प्रेम के निम्न वासना-रूप की उसमें प्रतिष्ठा नहीं है, उदाहरण के लिए 'सूर' ने अपने गीतों में राधा और कृष्ण के ऐंद्रिय प्रेम के जो कई चित्र दिये हैं उनमें एक आलंकारिक गोपन है।'[1] 'मीरा' के कुछ पद ऐसे मिलते हैं जिनमें अभुक्त प्रेम की पिपासा की अभिव्यक्ति मिलती हैं। यदि हम हठात् उनके 'प्रियतम' को भगवान नहीं मान लेते तो उनके कतिपय पदों से वासना की गन्ध आती है चाहे वह भगवान कृष्ण के प्रति ही क्यों न हो। इसका संकेत इस पद से मिलता है—

मैं गिरिधर रंग राती सैयाँ।

पंचरंग चोला पहन सखी मैं झुरमुट खेलन जाती॥
ओह झुरमुट माँ मिल्यो साँवरो खोल मिली तन गाती।
जिनका पिया परदेश बसत है लिख लिख भेजै पाती॥
मेरा पिया मेरे ही पास बसत है, ना कहुँ आती जाती।
चन्दा जायगा सूरज जायगा, जायगी धरणि अकासी॥
पवन पाणी दोनुही जायँगे, अटल रहै अविनासी।

परमात्मा से सम्बद्ध होने पर भी मीराबाई का प्रेम लौकिक रूप में व्यक्त हुआ है। सगुण मार्गी जितने भी कवि हैं न तो उनमें कोई रहस्य है और न तो लौकिक प्रेम की पंकिलता। किन्तु निर्गुण मार्गी कवियों में आकर लौकिकता और पारलौकिकता का पचड़ा खड़ा होता है और अधिकतर सूफी कवियों में रहस्य का यह पर्दा तथा लौकिकता और परलौकिकता के प्रति सन्देह और भी गहरा हो जाता है। सूफी कवि लौकिक प्रेम, जिसे

---

१. सुधीन्द्र एम० ए०, हिन्दी कविता में युगांतर, पृ० ३१४।

उनकी भाषा में इश्क मजाज़ी कहते हैं, में ही पारलौकिक प्रेम, जिसे इश्क हक़ीकी कहते हैं, देखते हैं। वे लौकिक प्रेम में ही अलौकिक झाँकी देखते दिखाते हैं और इश्क मजाजी का तिरस्कार नहीं करते बल्कि साधना के लिये उसे अनिवार्य मानते हैं।

'रीतियुग' में तो कवि नारी के साढ़े तीन हाथ के शरीर की नाप-जोख ही करता रह गया। ऐसा जान पड़ता है कि इस युग में उसे प्रेम के अतिरिक्त जैसे कोई अन्य विषय ही नहीं मिलता था'। मनुष्य की अनादि वासना को कवि ने रूप-चित्रण और रीति-चित्रण से तृप्त किया। कृष्ण और राधा की ओट लेकर, इलील और अश्लील के सम्बन्ध में जो कुछ कहना था कह दिया, स्वयं कवि के अतिरिक्त राजन्य वर्ग की काम-पूर्ति इसमें होती थी। फल यह हुआ कि कविता वासना-वलित कुत्सित रंग में रंग गई। किन्तु रीतियुग की यह कविता शृंगार परक थी न कि प्रेम परक जिसके लिये उस समय का समाज उत्तरदायी है। वीरगाथा काल की शृंगारपरक कविताओं से ये कवितायें नग्नता में बहुत आगे थीं क्योंकि युद्ध और संघर्ष की आँच उनपर नहीं लग पायी थी और मुसलमानी सभ्यता का सहयोग भी उन्हें प्राप्त हो गया था। सूर के राधा-कृष्ण तथा तुलसी के राम सभी रीतिकाल में आकर बदल गये। राधा और कृष्ण के नाम से तो इस युग का सारा लौकिक शृंगारिक साहित्य ही लिखा गया। किन्तु रीति काव्य के प्रमुख कवि केशव दास ने अपनी 'रामचन्द्रिका' में तुलसी के मर्यादा पुरुषोत्तम राम तक से ऐसी बातें कहलवालीं।

बन्धन हमारो काम-केलि को कि तोड़िबे को
ताजनो विचार को कै व्यजन विचारु है।
मान की जवनिका कि कंजमुख मूँदिबे को
सीता जू को उत्तरीय सब सुख सारु है॥

(केशवदास, रामचन्द्रिका)

रीति युग के अन्तिम दिनों में इसकी परम्परा में बाबू भारतेन्दु, हरिश्चन्द्र ने परिष्कार अवश्य किया, किन्तु इसका परिष्कृत रूप भी आधुनिक युग की जनता को स्वीकार न था जिससे वह राष्ट्रीय जागरण से ओत-प्रोत भावों तथा आचार्य पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के सुधारवादी खड़ी बोली के आन्दोलन की ओर आकर्षित हुई। परम्परित रूढ़ियों के प्रति जब साहित्य के अन्दर विरोध की लहर दौड़ने लगी तथा स्वच्छन्द विचारों को साहित्य में स्थान मिलने लगा तो प्रेम के स्वरूप में भी परिवर्तन आया आधुनिक काव्य में प्रेम को लेकर

जो विभिन्न धारायें फूटीं उनमें मुख्य थीं राष्ट्रीय, रहस्यवादी तथा स्वच्छन्द प्रेम की धारा। भारतेन्दु बाबू हरिचन्द्र ने अपने साहित्य के अन्दर देश और देश-वासियों की दयनीय स्थिति का चित्रण तो कर दिया था किन्तु उनको बदल देने की कामना तथा परिस्थितियों का समाधान उभड़ कर उनकी कविता में न आ सका था। देश-प्रेम से प्रेरित होकर जिन कविताओं की सृष्टि हुई उनमें मुख्य हैं बन्दना के गीत, प्रशस्ति गीत, वर्तमान स्थिति के चिन्तन तथा अतीत स्मरण के गीत, जागरण गीत, अभियान गीत तथा बलिदान गीत जिनसे देश का समस्त वातावरण गुंजायमान हो उठा।

रहस्यवादी तथा स्वच्छन्द प्रेम की धारा का मूल उत्स एक ही है। केवल अभिव्यंजना शैली में अन्तर आने के कारण भिन्न जान पड़ता है। स्वच्छन्द-तावादी तथा रहस्यवादी दोनों प्रकार के कवियों ने अपने आलम्बनों के लिये दाम्पत्य-प्रेम का आश्रय लिया है। 'असीम या अलौकिक के प्रति व्यक्त रहस्य-वादी का प्रेम लौकिक दाम्पत्य प्रेम ही था, उसे चाहे जितना उदात्त, अवास-नात्मक या परिशुद्ध कह लिया जाय।' भक्ति सम्प्रदाय तो ऐसे प्रेम को माधुर्य भाव ही कहता है और उसका मधुर रस काव्य का शृंगार रस ही है।'[1]

'सूफ़ी सम्प्रदाय वाले इसे ही 'इश्कमजाजी में इश्कहक़ीकी कहते हैं वे लौकिक प्रेम में ही अलौकिक प्रेम की झाँकी देखने के हामी हैं। पर स्मरण रहे कि सूफ़ी लौकिक प्रेम का तिरष्कार नहीं करते बल्कि उसे साधना के लिये अनिवार्य मानते हैं किन्तु हिन्दी के आधुनिक रहस्यवादी कवियों ने लौकिक प्रेम का तिरस्कार किया है जिससे वे बाहर न देख कर भीतर देखने लग गये हैं। पर स्वच्छन्दतावादी लौकिक प्रेम इश्कमजाज़ी की उसके परिशुद्ध रूप में भी अवज्ञा न कर सका उसने इश्कमजाज़ी में इश्कहक़ीकी होने के पाखण्ड का प्रचार नहीं किया।' स्वच्छन्दतावादी कवि के अन्दर स्वस्थ मानवीय भावों को प्रगट करने में किसी भी प्रकार की गोपन प्रवृत्ति नहीं है वह प्रेम की अभिव्यक्ति में झिझक की कोई आवश्यकता नहीं समझता। इस प्रकार हम देखते हैं कि पण्डित विश्वनाथप्रसाद जी मिश्र ने स्वच्छन्दवादी तथा रहस्यवादी कविताओं का दो रूप ही स्वीकृत कर लिया है किन्तु ये रूप विचारधारा के नहीं बल्कि शैली के हैं।

छायावाद, रहस्यवाद और स्वच्छन्दतावाद ये तीनों शब्द अत्यन्त ही विवाद

---

१. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, हिन्दी का समसामयिक साहित्य, पृ० ६१।

के विषय रहे हैं। कुछ विद्वानों ने छायावाद और रहस्यवाद को पर्यायवाची माना है तो कुछ उन्हें दो स्वतन्त्र विचारधारा के रूप में स्वीकार करते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि छायावाद के अन्तर्गत ही स्वच्छन्दतावाद एक विशिष्ट प्रवृत्ति है, तो कुछ लोगों ने रहस्यवाद का उसे एक अङ्ग ही मान लिया है जिसमें रूढ़ियों के प्रति विद्रोह निहित रहता है। छायावाद और स्वच्छन्दतावाद के सम्बन्ध में हमें विस्तृत रूप से अन्यत्र विचार करना है अतः यहाँ पर इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि रूढ़ियों के प्रति समाज तथा साहित्य और राजनीति में जो विद्रोह की लहर उत्पन्न हुई तथा उसका प्रतिनिधित्व करने के लिये जिस साहित्य-रूप की सृष्टि हुई उस स्वच्छन्दतावादी साहित्य के अन्दर ही अनेक प्रवृत्तियों तथा शैलियों का विकास हुआ, रहस्यवादी तथा छायावादी प्रवृत्तियाँ उन्हीं विकसित होनेवाली प्रवृत्तियों में मुख्य हैं।

कवियों की गोपन प्रवृति ने जब वैयक्तिक प्रणयानुभूति पर अलौकिकता का आवरण चढ़ा दिया तो उसे साहित्य में रहस्यवाद की संज्ञा दे दी गयी। डा० रामकुमार वर्मा के अनुसार 'रहस्यवाद आत्मा की अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है, जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति के साथ अपना शान्त और निश्चल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है और यह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में कोई अन्तर नहीं रह जाता।' किन्तु इतना तो सभी रहस्यवादी कवि तथा उसके समर्थक स्वीकार करेंगे कि रहस्यवादी कविताओं में किसी भी प्रकार की भक्ति की प्रतिष्ठा नहीं की गयी है न तो वे भक्त कवियों के द्वारा रची गयी हैं। न तो हमें इन कविताओं में 'सूर' का सारल्य ही मिलेगा और न तो तुलसी की भाँति लघुता का प्रकाशन ही। इसके अतिरिक्त यदि हम सूफ़ी सन्तों की निर्गुण ब्रह्म की उपासना ढूँढ़ेंगे तो भी हमें निराश ही होना पड़ेगा। इन कविताओं के अन्दर मिलन की प्रबल आकांक्षा तथा निराशा-जन्य चिरविरह की कामना ही को अभिव्यक्ति मिली है। और मजे की बात तो यह है कि यह मिलन और विरह का सारा स्वांग एक ऐसे प्रियतम से है जिसका न कोई रूप है, न रंग और न तो कभी उससे देखा-देखी ही हुई है। यह रहस्यवाद और जो कुछ हो भक्ति तो नहीं है और यदि ये कवितायें भक्ति काव्य की श्रेणी में नहीं आती तो इन्हें किस श्रेणी की कविताओं में रखा जाय। ये कवितायें और कुछ नहीं लौकिक प्रेम की परिष्कृत व्यंजना है। इसमें सन्देह नहीं कि जो होठ चुम्बनों से वंचित रहते हैं वे गाने लगते हैं। Lips that fail to kiss, begin to sing।"

हमने इसका जिक्र ऊपर कर दिया है कि स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन

रूढ़ियों के प्रति एक विद्रोह था। रीतियुग की जिस शृंगारिक कविता की इतनी भर्त्सना हो रही थी उसे उसी रूप में अभिव्यक्ति देना आधुनिक युग के साहस की बात नहीं थी। इसके अतिरिक्त देश के अन्दर जागरण आ रहा था जितने भी नेता तथा समाज सुधारक थे जी-जान से देश की हीन अवस्था को मिटाने तथा जन्मजात अधिकार स्वतन्त्रता को प्राप्त करने में जुटे हुये थे। महात्मा गाँधी के नेतृत्व में कांग्रेस द्वारा चलाया गया राष्ट्रीय आन्दोलन उग्र रूप धारण करता जा रहा था। असहयोग आन्दोलन, किसानान्दोलन तथा सत्याग्रह आदि राष्ट्रीय कार्यों की ही हर जगह चर्चा थी। देश का कोई भी भला कहलाने वाला ऐसा आदमी नहीं था जो इस महायज्ञ को सफल बनाने में यदि तन से नहीं तो मन से अवश्य सक्रिय न रहा हो। ऐसी स्थिति में कवि के लिये सम्भव नहीं था कि वह इन सबसे विमुख होकर अकेले बैठ कर प्रेम के गीत गाने लगता। प्रेम के गीत गाता तो वह भले पर उन्हें गाकर वह समाज में कौन सा मुँह दिखलाता, बात विचारणीय है। किन्तु प्रकृति के शाश्वत तत्वों पर उतना ही बन्धन लगाया जा सकता है जितना कि सम्भव हो। अत्यन्त मानवीय क्रीणा कलाप से मुक्त कविताओं पर तो तत्कालीन परिस्थितियों ने बन्धन अवश्य लगा दिये किन्तु प्रेम, जो कि सृष्टि की एक चिरन्तन शक्ति है, को बिल्कुल निष्क्रिय कर देना असम्भव ही था। जिससे उसने अपने अभिव्यक्ति का नवीन मार्ग ढूँढ़ निकाला कि जिससे मानव मन की अभिव्यक्ति भी हो जाय और कवि को समाज के सामने निन्दनीय भी न बनना पड़े। जिसका यह परिणाम हुआ कि इस युग के कवियों ने प्रेम का परिष्कार कर उसे शृङ्गार या विलासी वासना के रूप में नहीं बल्कि आदर्श और जीवन दर्शन के रूप में अपना लिया जिससे 'पंच रंग चोला पहन सखी मैं झुरमुट खेलन जाती' (मीरा) तथा 'सीता जू को उत्तरीय सब सुख सारु है' (केशव) के स्थान पर 'कैसे कह दूँ अलि सपना है मेरे मूँक मिलन की बात' (महादेवी) जैसी कविताओं की सृष्टि होने लगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि जितने भी मर्यादावादी कवि थे चाहे वह महादेवी वर्मा हों अथवा रामकुमार वर्मा सभी ने अपनी वैयक्तिक अनुभूति को अलौकिक सत्ता के सामने प्रकट करना आरम्भ कर दिया क्योंकि 'भारत के प्राचीन नैतिक आदर्श और उनपर आश्रित काव्य-मर्यादा ईश्वर के अतिरिक्त और किसी के सम्मुख अपनी आत्मा को उघाड़ करने की अनुमति दे ही कैसे सकती थी। रसाचार्यों ने आपत्तियाँ उठाई हैं कि 'अपनी व्यक्तिगत रति आदि को समाज के सम्मुख व्यक्त करना लज्जास्पद एवं बाधक है।' 'छायावाद ने काव्य परम्पराओं को तो नहीं, माना, परन्तु नैतिक आदर्शों का

आतङ्क उसपर भी गहरा था।"[1] यही कारण है कि अपने व्यक्तित्व को प्रच्छन्न रखते हुये प्रतीकों के द्वारा ही उन्हें अभिव्यक्त करना पड़ा। डा० नगेन्द्र छायावाद को स्वच्छन्दतावाद से भिन्न नहीं मानते इसलिये उनका यह मत स्वच्छन्दतावाद के ही सम्बन्ध में ही है। इस प्रकार हम देखते हैं कि रहस्यवाद के नाम पर जो कवितायें ईश्वर को लक्ष्य करके हुईं, जिन्हें हम लौकिक जगत की अभिव्यक्ति मानते हैं उनको यह रूप देना भी एक महान् परिवर्तन को जन्म देना ही है। यदि हम उन्हें थोड़ी देर के लिये भक्तिपरक कविताये ही मान लें तो भक्त और भगवान का रूप भी इन कविताओं के द्वारा बदला हमें स्वीकार करना पड़ेगा, जो स्वच्छन्दतावाद का एकमात्र प्रभाव है।

रहस्यवाद के द्वारा जिस मर्यादावादी प्रेम-काव्य की रचना हुई उसके अतिरिक्त ऐसे भी प्रेम काव्यों की सृष्टि हुई जिनमें कवि समाज तथा पारम्परिक बन्धनों की कुछ भी परवाह न करते हुए स्पष्ट रूप में खुलकर सामने आया। ऐसे काव्यों में जिस स्वच्छन्द प्रेम की अभिव्यक्ति हुई है वह प्रधानतः श्रृङ्गारिक कवितायें हैं। उन काव्यों का जन्म कवि की व्यक्तिगत कुण्ठाओं से हुआ है जिनके मूल में काम की अनादिशक्ति वासना सन्निहित है क्योंकि व्यक्तिगत कुण्ठायें काम के चारों ओर केन्द्रित रहती हैं। जिस समय इस साहित्य की सृष्टि आरम्भ हुई उस समय स्वच्छन्द विचारों के आदान-प्रदान से स्वतन्त्र प्रेम के प्रति समाज में आकर्षण बढ़ रहा था जिससे एक प्रकार की जो झिझक और संकोच था दूर होता जा रहा था। किन्तु इस स्वच्छन्दवादी प्रेम की वेदना में भक्ति तथा रीतियुग की वेदना की भाँति ज्वाला नहीं थी। 'सूर' की विरहणी भले ही इतनी जल रही हो कि उसके हाथों के स्पर्श से कागज जल जाता है, 'जायसी' की विरहिणी के जलने से कौवा काला हो जाता है, तथा बिहारी की सन्तप्ता नायिका की स्वांस से माघ माह ही में लू क्यों न चलने लग जाती हो—

सुनत पथिक मुँह माह-निसि लुवै चलति उहिं गाम।
बिन पूछे बिन हीं सुने जियत विचारी वाम॥

अथवा—

आड़े दै आलै बसन जाड़े हू की रात।
साहस कै कै नेह बस सखी सबै ढिग जात॥

(बिहारी)

---

१. डा० नगेन्द्र, आधुनिक कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ।

किन्तु स्वच्छन्द प्रेम की धारा में उन्माद तो उससे भी अधिक है, पर डरने झिझकने तथा साहस करने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि उसका मूल उत्स ही इतना महान् तथा शीतकर है कि जीवन को अभिभूत कर देता है प्रेम का आधार ही इतना महान है कि वह विनाशकारी हो ही नहीं सकता चाहे वह अपने किसी भी रूप में क्यों न हो—

अम्बर-चुम्बी हिम शृंगों से
कलरव कोलाहल साथ लिये,
विद्युत की प्राणमयी धारा।
बहती जिसमें उन्माद लिये।

(कामायनी, जयशंकर प्रसाद)

रीतिकाल में सौन्दर्य ज्वालामय था जिससे मरने-जीने का स्वांग अधिक रचने की आवश्यकता पड़ी है किन्तु इस युग का सौन्दर्य शान्त तथा शीतल है जिसमें उन्माद के साथ प्राणमयी धारा का श्रोत भी प्रवाहित होता रहता है कर्म करने तथा विश्वास की दृढ़ रखने की एक शान्तिदायिनी प्रेरणा प्राप्त होती रहती है। रीतिकालीन कवियों की भाँति कविता के विषय में नारी का साढ़े तीन हाथ का शरीर ही नहीं रह गया बल्कि अनन्त और अगाध विषय आधुनिक सभ्यता ने लाकर उनके सामने उपस्थित कर दिये हैं जिनमें नित्य नवीन अनुभूतियों के साथ कवि की स्वच्छन्द भावना ने खुलकर विहार किया है। यदि किसी मर्यादावादी कवि ने परोक्ष सत्ता का सहारा लेकर अपनी वेदना को अभिव्यक्ति दी है तो किसी ने खुलकर लौकिकता की भूमि पर स्वच्छन्द प्रेम को, किन्तु सारे प्रेम गीत तथा काव्य मानवीय भावनाओं को ही अभिव्यक्ति हैं। यदि हम—"रंगमय है देव दूरी छू तुम्हें रह जायगी यह चित्र मय क्रीणा अधूरी" (महादेव वर्मा) को अलौकिक प्रेम मानते हैं तो 'मिलन अन्त है मधुर प्रेम का और विरह जीवन है। विरह प्रेम की शाश्वत गति है और समुग्र मिलन है' (रामनरेश त्रिपाठी) को अलौकिक प्रेम क्यों नहीं मानते। किन्तु त्रिपाठी जी ने इसमें प्रेम की और वह भी लौकिक प्रेम की सच्ची परिभाषा दी है न कि छद्मवेष में अपने को लोगों के सम्मुख उपस्थित किया है। इसमें सन्देह नहीं कि कविता में ही प्रेम को स्वाभाविक स्वरूप मिला। प्रेम का स्वच्छन्द रूप सर्वप्रथम श्रीधर पाठक ने १९ वीं शताब्दी में अनूदित 'एकान्त वासीयोगी' (मूल कृति हरमिट, गोल्डस्मिथ) द्वारा प्रस्तुत किया। "रीति-ग्रन्थों के लक्षणों पर आधारित संयोग वियोग का वर्णन न करके उन्होंने प्रेम की एक ऐसी लोक प्रचलित कहानी सुनाई जो सबके हृदय को अपनी कहानी

थी। यह कहानी ही नहीं, मानव जीवन का एक चिरन्तन सत्य है। किसी के प्रेम में योगी होकर प्रकृति के एकान्त क्षेत्र में कुटी बनाकर निवास करना एक ऐसी मार्मिक भावना है जो सभी देश के सभी हृदयों को समान रूप से स्पर्श करती है। इंग्लैण्ड में बढ़ती हुई भौतिकता के विरुद्ध किसी एकान्त क्षेत्र में प्रेम की पूजा का संकेत देने के लिये ही 'हरमिट' की अवतारणा हुई थी। यह प्रेम कहानी पण्डितों की रूढ़ि से मुक्त लोक-गीतों के मेल में दिखाई पड़ती है।[1]" पं० श्रीधर पाठक जी ने अपनी इस रचना द्वारा प्रेम को वासना के रूप में ही प्रदर्शित करके मानवीय वृत्ति के शुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठित किया है। इस प्रेम-काव्य का प्रभाव इस काल के अनेक लघु काव्यों पर सम्यक रूप से पड़ा जैसे—

१—प्रेम पथिक.....जयशंकर प्रसाद
२—शिशिर-पथिक.....रामचन्द्र शुक्ल
३—मिलन.....रामनरेश त्रिपाठी
४—ग्रन्थि.....सुमित्रानन्दन पन्त

इस प्रकार के प्रेमाख्यान काव्यों के लिखने की प्रवृत्ति हिन्दी में सर्वप्रथम इन्हीं स्वच्छन्दवादी कवियों द्वारा प्रकट हुई। द्विवेदी-युग के आरम्भ में प्रेम पर जो कोई उल्लेखनीय रचना नहीं हो सकी उसका एकमात्र कारण यही है कि उस समय रीतिकालीन शृङ्गार के विरोधी भावों की ही सृष्टि हो रही थी। जो रचनायें हुई भी उनमें उच्च आदर्श ही प्रस्तुत किया जाता था। प्रेम को हृदय की निश्छल और निःस्वार्थ वृत्ति माना गया। जिसका प्रभाव प्रसादजी पर भी पड़ा था। उन्होंने प्रेम-पथिक में लिखा है।

पथिक प्रेम की राह अनोखी भूल भूलकर चलना है।
घनी छाँह है जो ऊपर तो नीचे काँटे बिछे हुए हैं॥
प्रेम यज्ञ में स्वार्थ और वासना हवन करना होगा।
तब तुम प्रियतम स्वर्ग बिहारी होने का फल पाओगे॥

'प्रसाद' जी ने प्रेम के तत्व का मन्थन किया था और यह निष्कर्ष निकाला था कि प्रेम वह रोग है जिसमें दुःख ही दुःख है जिसमें पड़कर फिर कोई सुखी नहीं रह सकता। किन्तु इतना स्वीकार किया है कि उसमें मनोरथ की उतुङ्ग लहरें उठा करती हैं यही कारण है कि कवि एक बार यह कह कर कि—

---

१. डा० शितिकण्ठ मिश्र, खड़ी बोली का आन्दोलन।

'प्रेम, सो जनि प्रीति की जो समुझि ल्यो मन माँहि ।
प्रेम को जनि नाम लीजो भूलि जाओं याहि ॥'

पुनः उसी प्रेम के पीछे दौड़ लगाते हैं। यद्यपि, अपने पूर्ववर्ती युग के कवि बोधा के साथ स्वर में स्वर मिलाते हैं।

अति खीन मृनाल के तारहुतें, तेहि ऊपर पाँवदै आवनो है।
सुई-बेह कै द्वार सकै न तहाँ, परतीति को टाँडो लदावनो है ॥
कवि बोधा अनी बनी नेजहुतें चढ़ि तापै न चित्त डरावनो है।
यह प्रेम को पंथ कराल है री, तरवार की धार पै धावनो है।'

(बोधा कवि)

'पथिक प्रेम की राह अनोखी भूल भूलकर चलना है।
घनी छाँह है जो ऊपर तो नीचे काँटे बिछे हुये हैं ॥'

(प्रसाद)

फिर भी उनका स्वच्छन्द स्वाभाविक मन यही स्वीकार करता है कि—

हृदय खोलकर मिलने वाले बड़े भाग्य से मिलते हैं।'

प्रसाद जी मानवीय भावनाओं के सच्चे कवि तथा स्वच्छन्द एवं स्वस्थ प्रेम के गायक थे। हिन्दी साहित्य ने सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करने वाला इतना बड़ा कवि अभी उत्पन्न नहीं किया। इन्होंने जिस सौन्दर्य की उपासना की है तथा जिसके साहचर्य के लिये आकुलता प्रकट की है वह साधारण सौन्दर्य नहीं है जिसे सभी प्राप्त कर लें। वह तो चेतना का उज्ज्वल वरदान है और जिसे मिल जाता है उसे इस लोक में ही स्वर्ग का सा आनन्द आने लगता है—

'उज्वल वरदान चेतना का सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं।
जिसमें अनन्त अभिलाषाओं के सपने सब जगते रहते हैं ॥'

(कामायनी)

इसके अतिरिक्त प्रसाद जी ने अपने प्रेमाभिव्यक्ति की मस्ती में समाज के व्यङ्गों तथा मरणोन्मुख परम्पराओं की कुछ भी परवाह नहीं की है। उन्होंने 'झरना' में स्पष्ट कह डाला है—

'डरो नहीं जो तुमको मेरा उपालम्भ सुनाना होगा।
केवल एक तुम्हारा चुम्बन इस मुख को चुप कर देगा ॥'

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक ओर तो रहस्यवाद के 'माध्यम से अत्यन्त सूक्ष्म एवं अलौकिक सत्ता को लक्ष्य करके आत्मा का परमात्मा के

साथ प्रणय व्यापार चल रहा था तो दूसरी ओर स्पष्ट रूप में मानवीय अभावों की प्रेम सम्बन्धी तृप्ति की पूर्ण कामना की जा रही थी।'

इस विचारधारा के कवियों का प्रेम अधिकतर निराशाजन्य है और उनका वियोगपक्ष आत्मगत है तथा वियोग भी उसी का है जिससे अभी मिलन नहीं हो पाया है। यह दूसरी बात है कि कभी कोई किसी के 'निस्सीम हृदय में' आ गया है। 'प्रसाद' जी ने प्रेम पथिक में अधिकतर इसे आदर्श के रूप में ही अपनाया है। किन्तु प्रेम का निराशावाद अत्यधिक मर्मस्पर्शी रूप में पण्डित सुमित्रानन्दन जी के 'ग्रन्थि' में अभिव्यंजित हुआ है।

'शैवलिनि जाओ मिलो तुम सिन्धु से।
अनिल आलिङ्गन करो तुम गगन को॥
चन्द्रिके, चूमों तरङ्गों के अधर।
उडुगणों गाओ पवन वीणा बजा॥
पर हृदय सब भाँति तू कंगाल है।
देख रोता है चकोर इधर सिहर॥
वह मधुप बिंधकर तड़पता है, यहीं।
नियम है संसार का रो हृदय रो॥

उनकी कविता का आदि श्रोत ही विरह है उनका मत है कि—

'वियोगी होगा पहला कवि।
आह से उपजा होगा गान॥
उमड़ कर आखों में चुपचाप।
बही होगी कविता अनजान॥'

रामनरेश जी त्रिपाठी ने तो प्रेम को जीवित रखने के लिये विरह को अतिआवश्यक माना है। उन्होंने अपनी रचना 'मिलन' में प्रेम को जीवन का सारतत्व ही नहीं माना है बल्कि उसे स्वर्ग-अपवर्ग और ईश्वर का प्रतिरूप भी माना है—

गन्धविहीन फूल है जैसे।
चन्द्र चन्द्रिका हीन॥
त्यों ही फीका है मनुष्य का।
जीवन प्रेम विहीन॥
प्रेम स्वर्ग है, स्वर्ग प्रेम है।
प्रेम अशंक अशोक॥

ईश्वर का प्रतिबिंब प्रेम है।
प्रेम हृदय आलोक॥

त्रिपाठी जी ने प्रेम का एक दूसरा पक्ष भी सामने रखा जो प्रसाद आदि कवियों के द्वारा नहीं लाया गया था। इनमें वैवाहिक जीवन के पश्चात् प्रेम का सूत्र पात होता है और वह विकसित होकर क्रमशः देश प्रेम से विश्व प्रेम तक पहुँचता है। यह अवस्था सूफ़ी सन्तों ने भी दिखलाई थी परन्तु उनके अन्दर इस प्रकार का क्रमिक विकास नहीं था बल्कि उन लोगों ने लौकिक प्रेम को ही पारलौकिक प्रेम अपने कुछ निश्चित संकेतों के द्वारा बना डाला था। इस प्रकार द्विवेदी जी के उत्तरार्द्ध में प्रेम-काव्यों की सृष्टि अधिक हुई किन्तु रीतिकालीन प्रेम काव्यों में स्वच्छन्दतावादी प्रेम काव्यों में महान् अन्तर है। रीतिकालीन काव्य में प्रेम परम्परागत था और नायिका भेद के नियमानुरूप ही उसका चित्रण हुआ है परन्तु स्वच्छन्दवादी प्रेम संस्कृत नाटकों और अंग्रेजी प्रेमाख्यानों में वर्णित प्रेम की भाँति शुद्ध और स्वच्छन्द है। आधुनिक काल में प्रेम को जीवन तत्व के रूप में स्वीकार किया गया। जिस प्रकार भक्तिकाल में भक्ति जीवन का तत्व माना गया उसी प्रकार आधुनिक युग में प्रेम। इस युग में मुख्यतः प्रेम के दो रूप दिखाई पड़ते हैं एक तो 'पन्त' के 'ग्रन्थि' वाला प्रेम जो प्रथम दर्शन में ही आरम्भ हो जाता है तथा दूसरा रामनरेश त्रिपाठी के 'मिलन' और 'पथिक' वाला प्रेम जो विवाह के बाद आरम्भ होकर क्रमशः विकसित होता जाता है।

इन कवियों के अतिरिक्त आधुनिकतम खेवे के कवियों के अन्दर हमें वैयक्तिक प्रेम व्यापारों के आधार पर लिखी अनेक ऐसी कवितायें मिलेंगी जिनके अन्दर उन्होंने अपने प्रेमाभावों की मार्मिक अभिव्यक्ति की है। इस खेवे तक आते-आते हम देखते हैं कि प्रेमाख्यानक लघु काव्यों की परम्परा भी प्रायः समाप्त हो चली और उनका स्थान गीतों अथवा प्रगीतों ने ले लिया। गीतों और प्रगीतों के माध्यम से जिस प्रकार प्रेम की अभिव्यक्ति हो रही है उससे प्रेमानुभूतियों को व्यक्त करने की क्षमता इसने सिद्ध कर दी।

कवि सम्मेलनों के बढ़ते हुए प्रचार तथा जीवन की अत्यधिक व्यस्तता ने काव्यरूपों को प्रबन्ध तथा लघु काव्यों से हटाकर प्रगीत-मुक्तको तक पहुँचा दिया है। परिस्थितियों की माँग तथा गेय तत्वों के प्रति बढ़ती हुई लोगों की रुचि ने हिन्दी साहित्य को प्रेम गीतों के द्वारा धनी बनाया है इस खेवे के कवियों ने अपनी रचनाओं के द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है कि एक सुन्दर साहित्य की सृष्टि के लिये लौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति से बढ़कर दूसरा

कोई अन्य शाश्वत् मानवीय तत्व है जो कभी न तो झूठा होता है और न तो इसका गान कभी बासी। कबीर से लेकर महादेवी तथा आज के कवियों तक का यह प्रिय विषय रहा है किन्तु इसमें नित्य नवीनता आती ही रही। आधुनिकतम प्रेम गीतों की जो सबसे बड़ी विशेषता है वह यह कि इसका गायक न तो अपने को धोखा देता है और न सहृदय पाठक को। यदि वह किसी सुन्दरी के फिरोजी होठों को देखकर आकर्षित हो जाता है और अपनी आकुलता को सँभाल नहीं पाता तो उसे जरा भी कहने में हिचक नहीं रह गयी है कि—

'किसी के फिरोजी होठों पर
बरबाद मेरी जिन्दगी है!' (धर्मवीर भारती)

यदि वह किसी सौन्दर्य से अपने को अभिभूत हुआ पाता है तो उसे उसकी महत्ता स्वीकार करने में किसी प्रकार का संकोच नहीं है—

'किसी के रूप के बादल
हमें सोने न देते हैं,
हमें रोने न देते हैं।
कभी पल एक भी अपना
हमें होने न देते हैं।
गरजते आज यौवन में
किसी के रूप के बादल। (शम्भूनाथ सिंह)

इतना ही नहीं बल्कि अतृप्त प्रेम की वेदना से वह इतना परिचित हो गया है कि वह दूसरों को उस स्थिति में देखना भी नहीं चाहता। वह समान धर्मी होने के नाते अन्य प्रेमियों को सजग भी करता जान पड़ता है जिससे सहसा कह उठता है। 'टेर रही प्रिय तुम कहाँ' (शम्भूनाथ सिंह) उसका यह तुम 'सब' के लिये भी हो सकता है पर इस प्रकार के गीतों द्वारा एक उदात्त प्रेम का जो स्वरूप उपस्थित किया गया वह आरम्भ में कम ही दिखलाई पड़ता है। इस खेवे के कवियों में प्रेम पात्र के प्रति इतना सहज विश्वास है कि यह जानते हुये भी कि भविष्य में मिलना कठिन ही है फिर भी अभाव में आँसू बहाकर अमंगल की सूचना नहीं देना चाहते। किन्तु हँसते इसलिये नहीं कि उन्हें विरह दुःखद नहीं है बल्कि उसकी सीमा तो इतनी बढ़ गई है कि सुख और दुख अलग रह ही नहीं गये हैं। हँसी तो ऐसी ही है जैसा कि एक शायर ने कहा है।

'यह दर्द ही है कि हँस रहा हूँ
वरना आँखों में न कम हैं आँसू।'

परन्तु आज का कवि उससे भी दो कदम आगे है। यदि कोई परिस्थिति आई ही नहीं तो उससे छुटकारा पाना कठिन नहीं है किन्तु आई हुई परिस्थिति को बदल देना तो शौर्य और साहस का ही काम है। विलास जन्य कापुरुषता तथा दीनता उससे कोसों दूर है। उसकी आखों में वैसे आँसू आते ही कब हैं यदि कहीं दो बूँद आये तो उन्हें पीने का वह साहस भी रखता है—

'दूर सपनों का बसेरा था मुझे
ज्ञात कुछ भी जब न मेरा था मुझे।
मुस्करा दे जो निराशा के क्षितिज पर
दूर आशा का सवेरा था मुझे।
मिल गये मरु में मुझे दो बूँद आँसू
पी रहा हूँ यह किसी का प्यार है। (क्षेम, जीवनतरी)

रामनरेश त्रिपाठीजी ने जो विवाह के पश्चात् प्रेम का क्रमिक विकास दिखलाया था वहाँ वैवाहिक प्रेम तो नहीं मिलता, किन्तु ऐसा भी प्रेम पात्र नहीं है जिसका कि कभी दर्शन ही नहीं हुआ अथवा प्रथम झलक भर ही मिलकर रह गयी है। बल्कि कवि का जो उससे कभी मिलन हो गया था उसका आभार मानते हुये वह पुनः मिलन का विश्वास रखता है। इससे वह अपने व्याकुल प्राण को बौद्धिकता के सहारे समझाता भी है।

'ओ प्राण अभागे, रोता क्यों ?
झरना यदि फूलों का सच है, खिलना क्यों उनका सत्य नहीं !
बिछुड़न यदि जीवन का सच है, मिलना क्यों जीवन सत्य नहीं !
यह मन अविराम बहा करता चिर सुख-दुख के युग-कूलों से,
मिलने का सुख-आभार भुला, आंसू का हार पिरोता क्यों ?
ओ प्राण अभागे, रोता क्यों ? (क्षेम, जीवनतरी)

इसके अतिरिक्त कवि इतना तो बता ही देना चाहता है कि जिस प्रेम की वह याचना कर रहा है वह मानवीय प्रेम है और वह स्वयं लौकिकता की भूमि पर खड़ा है। न तो उसने अपने ऊपर रहस्य का कोई आवरण डाला है और न तो रहस्य की भाषा में बात करना ही वह पसन्द करता है। उसे और कुछ नहीं चाहिये यदि उसे प्रेम का सम्बल मिलता रहे तो वह जीवन की सभी कठिनाइयों पर विजय पाने का साहस रखता है। वह निस्संकोच स्वच्छन्द होकर स्पष्ट शब्दों में निवेदन करता है—

मुझे अपनी निगाहों से गिराओ मत !
न मैं हूँ देवता सच है, न मुझसे स्वर्ग का सम्भ्रम !
मनुज हूँ साधना बल है, न शूलों का मुझे कुछ गम !
सफल हैं सत्य होते आ रहे जिन स्वप्न फूलों के—
मुझे उन स्वप्न बाहों से गिराओ मत !

(क्षेम 'जीवन ज्योति और संघर्ष')

प्रेम जीवन की सबसे व्यापक वृत्ति है, यही कारण है, कि अनादिकाल से ही यह काव्य का प्रमुख विषय रहा है। इसको सबसे अधिक प्रधानता रीतिकालीन कवियों ने दिया और उससे भी अधिक प्रमुखता उसे आकर स्वच्छन्दवादी कवियों ने दिया। स्वच्छन्दवादी कवियों की प्रणयानुभूति में अन्य युगों की प्रणयानुभूति से अधिक स्वाभाविकता है जैसा कि हमने ऊपर के उदाहरणों से जान लिया है। स्वच्छन्दवादी कवि अपनी कविताओं में स्वयं प्रेमी के रूप में प्रकट होता है, वह स्वयं प्रेम करता है जिससे उसकी अनुभूति में औरों की अपेक्षा अधिक सचाई है। रीतिकालीन कवियों की भाँति दूसरों की प्रेमलीलाओं को चित्रित कर देने वाले कवि में कभी भी वह सचाई नहीं आ सकती क्योंकि वह स्वयं प्रेम नहीं करता और यदि करता भी है तो कहने का साहस भी नहीं रखता। 'घनानन्द' जी ऐसे एकाध विरले भले ही मिल जायँ जो अन्तिम श्वास तक यह कहते चले जायँ कि—

बहुत दिनान की अवधि आस पासपरे।
खरे अरबरनि भरे हैं उठि जान कौ।
कहि कहि आवन संदेसो मन भावन को।
गहि गहि राखति है दै दै सनमान कौ॥
झूठी बतियानि की पत्यानि तें उदासह्वै कै।
अब न घिरत घन आनन्द निदान कौ॥
'अधर लगे हैं आन करके पयान प्रान।
चाहत चलन ये संदेशो लै सुजान कौ॥

इस युग में प्रेम की इतनी प्रधानता रही कि स्वतन्त्र रूप से प्रेम के ऊपर ही अनेक कवितायें रच डाली गयीं। इन काव्यों में पति-पत्नी का प्रेम उतना नहीं मिलता जितना कि प्रेमी और प्रेमिका का क्योंकि आधुनिक नारी परिणीता से अधिक प्रेयसी बन गयी है। प्रेम एकांगी नहीं रह गया है बल्कि उसका दोनों पक्षों से आदान-प्रदान होता है, जिसके भीतर आज का सभ्य-वर्तमान समाज झाँकता हुआ दिखाई पड़ रहा है।

ही साथ वैदिक तथा संस्कृत साहित्य के अध्ययन से भी उस ओर कवियों का ध्यान आकर्षित हुआ और उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप प्रकृति रूढ़ि मुक्त हुई। दूसरी बात यह भी है कि इस युग के कुछ कवियों का कोमल और कल्पना-शील हृदय इस लोक के व्यवहार से सन्तुष्ट नहीं हो सका, उनकी असाधारण मानसिक स्थिति के कारण उन्हें अपने हृदय की बात समझनेवाला कोई हाड़-माँस का जीवन नहीं मिला।

कवियों का प्रकृति के प्रति आकर्षण उनकी प्रेम-भावना का बहुमुखी विकास है जिसके अन्दर सिमिट कर प्रकृति अपने आप आ गयी है। आधुनिक काव्यों में प्रकृति का मानवीकरण जिस सफलता के साथ किया जा रहा है वह किसी भी साहित्य के लिये .गौरव की वस्तु है। मानवीकरण की दिशा में श्री सूर्यकान्त जी त्रिपाठी 'निराला' ने सन् १९१६ में जो अपनी 'जुही की कली' नामक कविता मुक्त छन्द में लिखी वह एक दीप स्तम्भ बन गई है। कवि की इस सृष्टि में 'जुही की कली' एक साधारण कली न रहकर एक मानवीय नायिका बन गई है जिसका प्रेमी मलयानिल भी शरीरधारी नायक की भाँति उसके पास आता है, दोनों की क्रीड़ा में अत्यन्त लौकिक सजीवता है—

विजन बन वल्लरी पर
सोती थी सुहाग भरी स्नेह स्वप्न मग्न।
अमल-कोमल-तनु-तरुणी जुही की कली॥
दृग बन्द किये शिथिल पत्रांक में।
वासन्ती निशा थी विरह-विधुर, प्रिया-संग छोड़।
किसी दूर देश में था पवन जिसे कहते हैं मलयानिल!
आई याद बिछुड़न से मिलन की वह मधुर बात!
आई याद चाँदनी की धुली हुई आधी रात,
आई याद कान्ता की कम्पित कमनीय गात
फिर क्या? पवन
उपवन-सर-सरित गहन गिरि कानन
कुञ्ज लता-पुंजों को पारकर
पहुँचा जहाँ उससे की केलि
कली खिली साथ।
सोती थी
जाने कहो कैसे प्रिय आगमन वह?
नायक ने चूमे कपोल,
डोल उठी वल्लरी की लड़ी जैसे हिंडोल
इस पर भी जागी नहीं,

निद्रालस वंकिम विशाल नेत्र मूँदे रही
किम्बा मतवाली थी यौवन की मदिरा पिये, कौन कहे ?
निर्दय उस नायक ने
निपट निठुराई की कि
झोकों की झड़ियों से
सुन्दर सुकुमार देह सारी झकझोर डाली
मसल दिये गोरे कपोल गोल
चौंक पड़ी युवती—
चकित चितवन निज चारों ओर फेर
हेर प्यारे को सेज पास नम्र मुखी हँसी खिली
खेल रंग प्यारे संग।

प्रकृति के इस क्रिया कलाप में दो प्रेमियों की विह्वल प्रेम क्रीड़ा व्यंजित हुई है। प्रकृति की मनोमय-मोहक गाथा हिन्दी के जिन कवियों ने पढ़ी है उसमें सुमित्रानन्दन पन्त का स्थान प्रमुख है। पन्त ने प्रकृति के भीतर जो नारी सौन्दर्य देखा है वह पार्थिव नारी, जो कि प्रेयसी है, के आकर्षण और सम्मोहन को भी जीत सका है कवि नारी के आकर्षण से आहत अवश्य है किन्तु प्रकृति के आकर्षण से विह्वल होकर वह सहसा कह उठता है–

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्राकृति से भी माया,
बाले ? तेरे बाल-जाल में कैसे उलझादूँ लोचन ?

महादेवी वर्मा के लिये तो प्रकृति शृंगार की ही वस्तु है। प्रकृति प्रियतम की ओर संकेत करने वाली उनकी अभिन्न सहचरी है, उनकी आत्मा की छाया है, रहस्य ब्रह्म की छाया है तथा उनके जीवन का अपरिहार्य अंश है। अपने असीम की ओर बढ़ती महादेवी प्रकृति के कण-कण से परिचित होती हुई आगे बढ़ी है और उसका क्रन्दन पहचान कर ही आश्वस्त हो पाई हैं। प्रसाद, निराला और पन्त तथा महादेवी, ये चार कवि प्रकृति के चित्रांकन के लिए प्रसिद्ध हैं, प्रकृति इनकी काव्यकला में विशेष रूप से सप्राण है। 'प्रसाद' प्रकृति के रूपों द्वारा प्रेम रहस्य के संकेत करते हैं। निराला दार्शनिक तत्वों की व्यंजना करते हैं, पन्त प्रकृति को प्राणमयी देवी मानकर कल्पना करते हैं और महादेवी की तो वह सहचरी ही है। इसके अतिरिक्त आधुनिकतम कवियों की कविताओं में पग-पग पर प्रकृति उनकी सहायता करती जान पड़ती है।

स्वच्छन्द धारा के प्रमुख कवि

जयशंकर प्रसाद

स्वच्छन्दवादी काव्य-धारा की जिस शैली को हम 'छायावाद' का नाम दे बैठे हैं उसके उन्नायकों में 'प्रसाद' जी का स्थान सर्वोपरि है। प्रसाद जी की रचनाओं का आरम्भ काल हिन्दी साहित्य का वह काल था जिस पर आचार्य महावीर प्रसादजी द्विवेदी का सम्पूर्ण प्रभाव व्याप्त था। तत्कालीन साहित्यकारों पर द्विवेदीजी का इतना आतंक छाया हुआ था कि उनकी लेखनी प्रायः स्वच्छन्दा पूर्वक कल्पना संसार में विचरण करने से घबराती थी और वह एक सीमित क्षेत्र के अन्दर ही बचा-बचाकर डग भर रही थी। द्विवेदीजी की ओर से कविता को अधिक प्रोत्साहन भी नहीं मिला क्योंकि उन्होंने अपना अधिक से अधिक समय गद्य-परिष्कार में ही लगाया। ऐसी स्थिति में एक ऐसे कवि का साहित्यिक मूल्यांकन करना, जो कि स्वतन्त्र रूप से अपनी नवीन शैली के साथ कल्पना संसार में ही विचरण कर जीवन ज्योति रूपी मोतियों की खोज कल्पना सागर में ही करना चाहता है, न तो संभव है और न तो लोग साधारणतः उसे समझने का प्रयत्न ही करना चाहेंगे। यही कारण है कि आरम्भ में उनकी कविताओं के सम्बन्ध में विद्वानों ने जो मत प्रकट किये वे रचनाओं की आत्मा को छू नहीं पाये। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल जी जैसे व्यक्ति ने भी तत्कालीन वातावरण से प्रभावित होकर यह कह डाला कि इनकी रहस्यवादी रचनाओं को देखकर चाहें तो यह कहें कि इनकी मधुचर्या के मानस प्रसार के लिये रहस्यवाद का परदा मिल गया अथवा यो कहें कि इनकी सारी प्रणयानुभूति ससीम पर से कूद कर असीम पर जा रही है।' [1]

'शुक्लजी' द्वारा दिया गया उपरोक्त मत कभी भी 'प्रसादजी' की शैली तथा काव्यों की व्याख्या नहीं हो सकती क्योंकि ऐसा लगता है कि पंडितजी ने कवि की स्वतन्त्र भावनाओं तथा विचारों का सम्यक मनन किये बिना ही उपरोक्त निर्णय दे डाला है। प्रसादजी ऐसे मस्त और समाज की संकीर्ण विचारधाराओं के व्यंग की कुछ भी परवाह न करने वाले, स्पष्टभाषी जिन्होंने अपने जीवन की अनुभूतियों को ही अपनी कविता तथा काव्य का आधार बनाया, अपने विचारों को व्यक्त करने के लिये रहस्यवाद का पर्दा लेते, तर्क की कसौटी

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६८२।

पर खरा नहीं उतरता। इस प्रकार बच बचकर चलने की भावना रखनेवाला कवि जैसा कि आचार्य 'शुक्ल' ने समझा है कभी ऐसा नहीं कह सकता, जैसा कि प्रसादजी ने 'निवेदन' किया है।

'डरो नहीं जो तुमको मेरा उपालम्भ सुनना होगा।
केवल एक तुम्हारा चुम्बन इस मुख को चुप कर देगा॥

केवल एक चुम्बन पर सारे झंझटों को टाल देनेवाला कवि रहस्यवाद का भी पर्दा ले सकता है, कुछ समझने की ही बात नहीं, सोचने की भी बात है। प्रसादजी की जिन रचनाओं को देखकर रहस्यवादी कविताओं का भ्रम होता है वे रहस्यवादी कवितायें नहीं बल्कि धरातल पर रहनेवाले मांस पिण्डों से युक्त मानव सम्बन्धी, धरातल के लिए ही लिखी गयी आन्तरिक अनुभूतियाँ हैं जिनमें चिन्तन की गहनता के कारण निखार अधिक है।

पथिक के पहले डग से ही उसकी मञ्जिल का अनुमान लग जाता है। कवि की व्यापक दृष्टि का नवजात अंकुर उसकी आरम्भिक रचनायें ही होती हैं। यदि हम प्रसाद जी की आरम्भिक रचनाओं को देखें तो हमारी कठिनाई बहुत कुछ दूर हो सकती है क्योंकि उसके आधार पर हम कवि की विकास रेखा का अनुमान लगा सकते हैं—

'सरासर भूल करते हैं उन्हें जो प्यार करते हैं।
बुराई कर रहे हैं और अस्वीकार करते हैं।
उन्हें अवकाश ही रहता कहाँ है मुझसे मिलने का।
किसी से पूँछ लेते हैं यही उपकार करते हैं।
जो ऊँचे चढ़के चलते हैं वो नीचे देखते हरदम
प्रफुल्लित वृक्ष ही यह भूमि कुसुमागार करते हैं।
न इतना फूलिये तरुवर सुफल कोरी कली लेकर
बिना मकरंद के मधुकर नहीं गुंजार करते हैं।
'प्रसाद' उसको न भूलो तुम तुम्हारा जो कि प्रेमी है
न सज्जन छोड़ते उसको जिसे 'स्वीकार करते हैं।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि आरम्भ में ही एक स्वाभिमानी प्रेमी की भाँति अपनी रचनाओं में प्रकट हो जाता है। आरम्भ से ही किसी भी वस्तु को देखने का प्रसाद जी का अपना अलग दृष्टिकोण रहा है जिससे किसी भी प्रकार की साहित्यिक सीमायें, चाहे वे शैलीगत रही हों अथवा विषयगत, उनके स्वतन्त्र विचारों को बाँध नहीं पाई हैं। महावीर प्रसाद जी द्विवेदी द्वारा प्रोत्साहित काव्य की इतिवृत्तात्मक काव्य शैली का उन्होंने अपनी रचनाओं में

पूर्ण बहिष्कार किया तथा अपनी वैयक्तिकता एवं व्यक्तित्व को रचनाओं में साक्षी रख कर भावाभिव्यक्ति की, जो तत्कालीन काव्य की वर्णनात्मक शैली से अधिक प्रभावोत्पादक सिद्ध हुई ।

प्रसादजी ने काव्य की जिस शैली को प्राथमिकता प्रदान की उसके लिये यद्यपि तत्कालीन भाव-भूमि उपयुक्त नहीं थी, उस समय हमारे बीच राष्ट्रीयता की एक ऐसी धारा प्रवाहित हो रही थी जिससे साहित्य को चिरस्थायी बनाने की प्रवृत्ति लोगों में कम हो चली थी और नागरिकों के सोये हुए राष्ट्रीय भावों को जगाने के लिए साहित्य सृजन की ओर कवियों की अधिक रुचि थी, किन्तु उन राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत कविताओं में बात सीधे-सीधे कह दी जाती थी जिससे उनमें साहित्यिकता का अभाव था। इस काव्यधारा के अग्रणी बाबू मैथिली शरण जी गुप्त ने राष्ट्रीय वाणी का जो सिंहनाद किया, सर्व प्रथम उसमें भी हमें कोई साहित्यिक निधि नहीं प्राप्त होती, यद्यपि उनकी 'भारत भारती' भारतीयों के गले की हार बन गयी थी। उसमें आदर्श के साथ करुणा से परिपूर्ण राष्ट्रीयता का सन्देश था। स्वतन्त्रता संग्राम की भयंकरता इस सीमा तक पहुँच गयी थी कि उसको दबाने के लिये अंग्रेज प्रभुओं ने अपनी कोई कला शेष नहीं रखी और एक ऐसी भी स्थिति आ गयी थी कि सीधे-सीधे राष्ट्रीयता का नाम लेना दुष्कर था। किन्तु युग की वह अमर धारा कला की ओट लेकर अभिधा के स्थान पर व्यंजना के रूप में प्रवाहित होती ही रही। इस प्रकार की रचनाओं के सूत्रधार थे पं० माखन लाल जी चतुर्वेदी जैसा कि उनके 'फूल की चाह' नामक कविता से प्रकट है, जिसमें वह एक कामना करता है—

'मुझे तोड़ लेना बनमाली औ उस पथ में देना फेंक,
मातृ भूमि पर शीश चढ़ाने जिस पथ जावें वीर अनेक।'

इस प्रकार की राष्ट्रीय कविताओं में कलात्मकता भी अधिक थी और उनका प्रभाव भी अधिक स्थायी था। इस राष्ट्रीयता का प्रभाव प्रसाद जी ने अपनी रचनाओं में अन्य प्रकार से ग्रहण किया। जहाँ तक कविताओं का प्रश्न है वे पूर्णरूपेण खुलकर राष्ट्रीय कवि के रूप में नहीं आ सके हैं क्योंकि उनका विचार था कि युग-जागरण का सबसे अधिक कार्य नाटकों के माध्यम से किया जा सकता है। देश की जागरूक जनता उपदेश और व्याख्यान नहीं चाहती बल्कि वह ऐसा नायक अथवा नेता चाहती है जिसके आदर्श को सामने रख-कर वह पीछे-पीछे जय-युद्ध के लिये चल सके। यह महत् कार्य नाटकों द्वारा ही सम्पन्न हो सकता है क्योंकि उसमें स्रष्टा को अवकाश रहता है कि वह नायक

की सृष्टि कर सके। यही कारण है कि यदि हमें राष्ट्रीय प्रसाद को देखना है तो हमें उसे उसके नाटकों में देखना होगा। उनके नाटकों में लिखित गीत राष्ट्रीयता के महा मंत्र हैं जिनकी प्रेरणा हमें स्वतन्त्रता की वेदी पर बलि देने को बाध्य सा कर देती है। कवि ने देश प्रेम की भावुकता में देश की स्वतन्त्रता के लिये उद्बोधन गीत लिखा है। जिसमें वह सम्पूर्ण बाधाओं को तोड़कर आगे बढ़ चलने का सन्देश देता है—

'हिमाद्रि तुंग शृङ्ग से
प्रबुद्ध शुद्ध भारती
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला
स्वतन्त्रता पुकारती

'अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़-प्रतिज्ञ हो चलो,
प्रशस्त पुण्य पंथ है, बढ़े चलो, बढ़े चलो।

देश प्रेम पर लिखी प्रसाद की कविताएँ द्विवेदी युगीन देश प्रेम की कविताओं से भिन्न हैं। जहाँ पर द्विवेदी युग में विशेषणों की संख्या गिनाई जाती थी वहीं प्रसाद जी ने उसके प्रभावकारी गुणों की चर्चा की है। मैथिली शरण गुप्त की—

'नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुन्दर है
चन्द्र सूर्य युत मुकुट मेखला रत्नाकर है
नदियाँ प्रेम-प्रवाह, फूल तारे मंडन हैं
वन्दी जन खग वृन्द, शेष-फन सिंहासन है

करते अभिषेक पयोद हैं, बलिहारी उस वेश की।
हे मातृ भूमि, तू सत्य ही सगुण मूर्ति सर्वेश की।

ये पंक्तियाँ उन्हीं प्राचीन विशेषणों का प्रतिनिधित्व करती हैं जिन्हें प्राचीन आचार्यों ने गिनाये थे, किन्तु प्रसाद जी का देश प्रेम इससे अधिक भावात्मक और व्यापक है—

'अरुण यह मधुमय देश हमारा।
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।
सरसताम रस-गर्भ-विभा पर, नाच रही तरु शिखा मनोहर।
छिटका जीवन हरियाली पर मंगल कुंकुम सारा।
लघु सुर धनु से पंख पसारे, शीतल मलय समीर सहारे।
उड़ते खग जिस ओर मुँह किये समझ नीड़ निज प्यारा।

बरसाती आँखों के बादल, बनते जहाँ भरे करुणा जल
लहरें टकराती अनन्त की—पाकर जहाँ किनारा ।'

इसमें कवि की दृष्टि की व्यापकता इतनी विशाल है कि वह क्षितिजि के किनारे तक की कल्पना कर लेता है। इनकी रचनाओं में प्रकृति चित्रण पर प्राचीनता का निर्मोक नहीं लक्षित होता, जिसमें उन्होंने पुरातन प्रबन्ध परम्परा का पूर्ण बहिष्कार किया है। इनके अतिरिक्त पं० श्रीधर पाठक आदि की रचनाओं में प्रकृति का स्वतन्त्र चित्रण तो आ चुका था किन्तु इन्होंने सर्व प्रथम काव्य में प्रकृति चित्रण द्वारा माधुर्य का चारु चाँद उगाया। प्रसाद जी ने प्रेम पथिक में रोमान्टिक काव्य की सृष्टि की है जिसमें स्वयं प्रकृति वातावरण प्रस्तुत करती है। आँसू, जिसको हम गीत काव्य का हिन्दी साहित्य को देन कह सकते हैं और जिसकी गणना हिन्दी की कुछ ही उत्कृष्ट रचनाओं में की जा सकती है, कवि की अनुपम भावनाओं की उड़ान का ही परिणाम है। 'आँसू' अपने थोड़े से विरह गीतों के द्वारा ही सर्वोत्तम काव्यों की श्रेणी में रखी जाने की अधिकारी है। इस काव्य को लेकर यह एक विवाद खड़ा होता रहता है कि इसे रहस्यवादी काव्यों की श्रेणी में रखें या इसे मानवीय विरह वर्णन ही स्वीकार किया जाय। इसमें कवि ने बिना किसी भय के मानव के विलास जीवन का चित्रण किया है और उसके अभाव में आँसू बहाया है जिसमें वह आगे चलकर जीवन से समझौता कर लेता है। विलास की व्यापकता किस प्रकार मनुष्य को विवश किये रहती है उसकी महत्ता को प्रकट करने के लिये कवि ने उसी प्रकार के उपमानों का प्रयोग किया है। इसे तो हम प्रसाद जी की निःसंकोच आत्माभिव्यक्ति कह सकते हैं, जिससे श्रेष्ठतर काव्योपयोगी वस्तु अन्य हो नहीं सकती। यह सब प्रकार से मानवीय काव्य है और प्रसाद जी मानवीय भावनाओं के कवि हैं। अपनी 'लहर' नामक रचना में उन्होंने मनुष्यों के मन में उठने वाली स्वाभाविक स्वच्छन्द भावनाओं की लहरों का चित्रण किया है। इस प्रकार की कविताओं में प्रसाद जी का व्यक्तित्व ही बोलता हुआ दिखाई पड़ता है।

हिन्दी का आधुनिक काल मुख्यतः मुक्तकों और प्रगीतों का काल है किन्तु प्रसाद जी की 'कामायनी' ने प्रमाणित कर दिया कि आधुनिक युग में भी महाकाव्य लिखे जा सकते हैं। प्रसाद जी का यह महाकाव्य भी समस्त प्राचीन साहित्यिक शास्त्रीय रूढ़ियों को एक चुनौती ही है। इस महाकाव्य को न तो हम विषय वस्तु की कसौटी पर कस सकते हैं और न तो अन्य विहित महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों पर। यह प्राचीनता के विरोध में सफल नवीन प्रयोग

है। जब तक हम इसकी पूर्ण चर्चा नहीं करते तब तक हम प्रसाद-साहित्य की आत्मा को पहचान ही नहीं सकते क्योंकि यह ग्रन्थ ही एक मात्र कवि की बहुमुखी प्रतिभा का चरम विकास है। इसके अन्दर ही कवि ने विभिन्न साहित्यिक उपादानों को समेट कर अपने ढङ्ग से रखा है और इसके पूर्व की उसकी सभी रचनायें वे आरम्भिक सीढ़ियाँ हैं जिनपर होता हुआ वह इस शिखर तक पहुँच सका है। जिसमें सर्गों का निबन्ध हो शास्त्रकारों के मत से वही महाकाव्य है। भामह ने इसके सम्बन्ध में जो मत प्रकट किया है उसके अनुसार यह आकार में बड़ा होता है, महान् व्यक्तियों का चित्रण करता है, ग्राम्य प्रयोगों से रहित रहता है, अलंकारों से युक्त होता है तथा सत् को आश्रय देने वाला होता है। इसमें मंत्रणा-गृह, दूत, यात्रा, युद्ध और नायक के अभ्युदय का वर्णन होता है तथा यह नाटक के पञ्च संधियों से युक्त और सुखान्त होता है। दण्डी ने भी 'काव्यादर्श' में इन्हीं का विस्तार किया है और 'साहित्य दर्पण के रचयिता विश्वनाथ के अनुसार एक देवता अथवा धीरोदात्त नायक के गुणों से समन्वित सद्वंश क्षत्रिय इसका नायक होता है। कहीं एक ही वंश के अनेक भूप नायक होते हैं। शृङ्गार, शान्त और वीर में से कोई एक रस अङ्गी होता है और अन्य रस गौण हुआ करते हैं। इतिहास अथवा लोक प्रसिद्ध कथा, नाटक की सभी सन्धियाँ, अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष में से एक उसका फल होता है। खलों की निन्दा सज्जनों का गुण कथन, आठ से अधिक सर्ग, प्रत्येक में एक ही छन्द, अन्तिम छन्द दूसरा जिससे अगली कथा का सूत्र चलता है, कहीं-कहीं अनेक छन्द भी मिलते हैं, सांगोपांग वर्णन युद्ध विवाह आदि का वर्णन ऐसे नियम हैं जिसका पालन करना महाकाव्य के लिये आवश्यक होता है। किन्तु उपरोक्त किसी भी लक्षणकार की परिभाषा के अन्दर 'कामायनी' को नहीं रखा जा सकता और यह भी सम्भव नहीं है कि उसे महाकाव्यत्व की मर्यादा से उतार दिया जाय।

महाकाव्यों की सृष्टि पहले होती है और उनके लक्षण बाद में बनाये जाते हैं। किसी भी युग का महान प्रतिभा सम्पन्न कवि अपनी रचना द्वारा लक्षणों का निर्माण करता है। कालिदास के 'रघुवंश' को महाकाव्य के अन्दर लेने के लिए साहित्यदर्पणकार को एक नायक के स्थान पर वंश को नायक के रूप में स्वीकार करना पड़ा। यदि आठ सर्गों से अधिक सर्गों के होने की व्यवस्था का कड़ाई से पालन किया जाय तो 'तुलसी' के 'रामचरित मानस' को भी महाकाव्यों की श्रेणी से अलग रखना होगा। प्रसाद जी ऐसे ही प्रतिभावान् महाकवि हैं, काव्य के लक्षण जिसके पीछे दौड़ते हैं। एक सच्चे कवि के लिये

शास्त्रीय बन्धनों का कोई मूल्य नहीं होता। उसके 'मन में जिस प्रकार जब एक वेगवान अनुभव का उदय होता है, तब वह उसे गीत-काव्य में प्रकाशित किये बिना नहीं रह सकता, उसी प्रकार जब उसके मन में एक महत् व्यक्ति अथवा आदर्श का उदय होता है, सहसा जब एक महान पुरुष अथवा एक महान् आदर्श उसके कल्पना राज्य पर अधिकार आ जमाता है तब उसके उन्नत भावों से उद्दीप्त होकर, उन्हें स्वरूप प्रदान करने के लिये जब वह भाषा के भवन का निर्माण करता है तब महाकाव्य की सृष्टि होती है। 'कामायनी' ऐसा ही आधुनिक युग का महाकाव्य है जिसके अन्दर वर्तमान युग की विषम-समस्याओं का समाधान निहित है।

'कामायनी' के अन्दर वस्तु जगत के अनेकमुखी दृश्यों और परिस्थितियों का चित्रण नहीं मिलता तथा प्रकृति सौन्दर्य वर्णन वस्तु रूप में मिलता है, इसलिये कुछ लोग 'कामायनी' को महाकाव्य कहने में हिचकते हैं। इसके अतिरिक्त युद्ध छायात्मक और प्रतीकात्मक है तथा संघर्ष अधिक प्रभावशाली नहीं है परन्तु आंतरिक संघर्ष अद्भुत है। सारस्वत प्रदेश में, बुद्धिवादी भौतिक विकास एवं परम्परागत लक्षणों को पूरा न करने पर भी 'कामायनी' महाकाव्य है। 'कामायनी' कवि के व्याकुल मन की समाधानयुक्त वाणी का अनुपम कोष है। जब कवि अपने जीवन में किसी आदर्श एवं महान् चरित्र से अभिभूत होता है, तो अभिव्यक्ति के लिये उसकी वाणी बाहर आने के लिये अकुला उठती है, जिसे कहे बिना कवि रह नहीं सकता और वही वाणी महाकाव्य का रूप धारण कर लेती है। मानवीय भावनाओं के स्वच्छन्द गायक कवि 'प्रसाद' को अपनी भावनाओं को 'कामायनी' के रूप में जो एक समन्वित रूप देना पड़ा है उनके मूल में कोई न कोई अवश्य ही बड़ी बात होगी। निश्चय ही उन्हें मानवता को एक महान् सन्देश देना था जिसके सहारे वे अपनी वर्तमान विषम परिस्थितियों से जूझते हुये सच्चे सुख का अनुभव कर सके। महाकाव्य को छोड़कर यह महत् कार्य काव्य के अन्य रूपो द्वारा कभी भी सम्भव नहीं, जिससे कवि को अपने काव्य की स्वच्छन्द भाव तरङ्गों से लहराते हुए 'कामायनी' को उस आनन्दवाद की मंजिल तक पहुँचाना पड़ा जिसकी उसने इच्छा की थी—

'इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रान्त भवन में टिक रहना।
चलना होगा उस सीमा तक जिसके आगे राह नहीं॥'

—प्रेमपथिक

जहाँ पहुँच कर जीवन की सारी विषमता तो समाप्त हो जाती है, किन्तु निस्सीमता और विशालता के कारण और कुछ अधिक जानने की जिज्ञासा बनी ही रहती है क्योंकि प्रसाद जी की कल्पना कभी भी सीमा का बन्धन स्वीकार नहीं कर सकती। उनकी कल्पना के उड़ान की मञ्जिल ऐसी है जहाँ–

'बन गया तम सा था अलक-जाल।
सर्वाङ्ग ज्योतिर्मय था विशाल॥
अन्तर्निनाद ध्वनि से पूरित।
थी शून्य-भेदनी-सत्ता चित्॥
नट राज स्वयं थे नृत्य-निरत।
था अन्तरिक्ष प्रहसित मुखरित्॥
स्वर लय होकर दे रहे ताल।
थे लुप्त हो रहे दिशा काल॥'

(कामायनी, दर्शन सर्ग)

अन्य स्वच्छन्दतावादी कवियों की भाँति 'प्रसाद' जी की कविताओं में केवल कल्पनाओं की उड़ान ही नहीं है बल्कि उनमें उड़ान की अपेक्षा कल्पना की सूक्ष्मता अधिक है जिससे वर्ण्यवस्तु को प्रस्तुत करने में अनोखापान आ गया है। वे सभी कारण जिन्होंने प्रसाद जी को कामायनी लिखने के लिये विवश किया, उनकी उन कविताओं के लिये भी उत्तरदायी हैं जिनमें मन की अभाव जन्य आकुलता तो है किन्तु स्वर्णिम भविष्य की कल्पना की अपेक्षा स्वर्णिम अतीत का यशोगान अधिक है। प्रसाद जी को जीवन में यदि उपेक्षा मिली है तो उन्हें मनचाहा वरदान भी मिला है। जिस प्रिय के उपेक्षापूर्ण व्यवहारों पर वे रोते सिसकते हैं।

'रो रोकर सिसक सिसक कर कहता मैं करुण कहानी।
वे सुमन नोचते फिरते करते जानी अनजानी॥'

(आँसू)

उसके साहचर्य के सुख का गौरव भी उन्हें मिल चुका है।

'माना कि रूप सीमा है।
यौवन में सुन्दर तेरे॥
पर एक बार आये थे।
निस्सीम हृदय में मेरे॥
थक जाती थी सुख रजनी।
मुख चन्द अङ्क में होता॥

श्रम सीकर सदृश्य नखत से ।
अम्बर पट भींगा होता ॥ (आँसू)

मिलन की मधुरिमा तथा विरह की कटुता दोनों का कवि ने अनुभव किया है । जीवन के क्षणिक सुख और अभाव के विषम दुख का उसे पूर्ण अनुभव है जिससे वह निरन्तर चिन्तन के बल से ऐसा मार्ग ढूँढ़ निकालने में तत्पर जान पड़ता है जिस पर चलकर जीवन के वास्तविक सच्चे सुख का स्थायी रूप में अनुभव किया जा सके । यही कारण है कि हमें उनके काव्य में निरन्तर विकास क्रम लक्षित होता है जो कामायनी के 'आनन्दवाद' में अपनी चरम अभिव्यक्ति पा सका है । जीवन के क्षणिक सुख एवं चिर-दुःख तथा मिलन की मधुरिमा और विरह की कटुता के बीच शांति न पाने के कारण कवि की जो भावना सदैव किसी एक स्थायी स्थिति को अपने काव्यों के माध्यम से ढूँढ़ती रही है, वही स्थायी स्थिति, समरसता सिद्धान्त के रूप में, महाकाव्य 'कामायनी' के लिये अपूर्व वरदान सिद्ध हो गयी है ।

'कामायनी' में प्रायः सभी प्रमुख स्थलों पर समरसता का आग्रह पाया जाता है । प्रायः सभी महाकाव्यों में एक न एक आग्रह अवश्य होता है । अपने काव्य के माध्यम से कवि एक न एक सन्देश देना चाहता है । 'प्रसाद' जी ने श्रद्धा के मुख से अपनी बात कहलायी है ।

"नित्य समरसता का अधिकार
उमड़ता कारण जलधि समान ;
व्यथा से नीली लहरों बीच
विखरते सुख मणि गण द्युति मान ।"

(कामायनी)

आगे चलकर 'दर्शन' खण्ड में भी 'श्रद्धा' अपने पुत्र मानव को समरसता का उपदेश देती है ।

'सब को समरसता का प्रचार ।
मेरे सुत सुन माँ की पुकार ॥'

अन्त में जहाँ सब मिल जाते हैं वहाँ भी और उपसंहार में भी यही आग्रह है । बीच-बीच में काम ने भी यही उपदेश दिया है ।

'तुम भूल गये पुरुषत्व मोह में ।
कुछ सत्ता है नारी की ॥

समरसता है सम्बन्ध बनी।
अधिकार और अधिकारी की ॥'

(इड़ा सर्ग)

'प्रसाद' जी द्वैत की सत्ता को मानते हैं तथा इस पर विश्वास करते हैं कि यह द्वैत की सत्ता ही संघर्षों के मूल में विद्यमान है।

द्वन्द्वों का उद्गम तो सदैव।
शाश्वत रहता वह एक मन्त्र ॥

(इड़ा सर्ग)

संसार में सभी चीजों के साथ द्वन्द्व लगा हुआ है जिसके मूल में द्वैत की सत्ता ही कार्य करती रहती है। इस द्वैत की सत्ता को प्रमाणित कर लेने के पश्चात् उन्होंने अद्वैत का खण्डन किया है। द्वैत की सत्ता तो प्रमाणित है ही क्योंकि अद्वैतवादी भी माया और ब्रह्म दो वस्तुयें मानते हैं, परन्तु इन दोनों के बीच सम्बन्ध क्या होना चाहिए यही झगड़ा है। भक्त भाव के उपासक इस सम्बन्ध को सेवक और सेव्य मानते हैं और दास्य भाव के उपासक इसे अधिकार और अधिकारी मानते हैं। इस सम्बन्ध को प्रसाद जी ने सामरस्य का सिद्धान्त माना है जिस एक के बिना दूसरा रह ही नहीं सकता। जहाँ विषमता है, वहीं वेदना है और जहाँ साम्य है वहीं आनन्द है। आरम्भ में प्रकृति और पुरुष में वैषम्य रहा जिससे प्रलय हुआ और केवल चिन्तित मनुष्य बच रहे किंतु जब सामरस्य स्थापित हो गया तो वहीं आनन्द की सृष्टि हुई।

इसी प्रकार की बात भगवान् बुद्ध ने भी की थी। भगवान् बुद्ध के पूर्व लोग (Extreem) छोर पर ही थे। ज्ञान-पन्थी ज्ञान को और भक्त भक्ति को ही सर्व-श्रेष्ठ मान बैठे थे। भगवान् बुद्ध ने मध्यमा प्रतिपदा का मार्ग दिखाया जिसे अरस्तू ने 'गोल्डेन मीन' कहा है। 'प्रसाद' जी ने इसी बीच के मार्ग यानी देवताओं की विलासिता और तपस्या के बीच प्रेम का सन्देश दिया।

जिसकी लीला विकस चली।
वह मूल शक्ति थी प्रेम कला ॥
उसका सन्देश सुनाने को।
संसृति में आई वह अमला ॥ (कामायनी)

इसके पूर्व विलासी देवता थे जिनका अन्त में प्रलय हुआ और उनके बाद तपस्वी रूप में आकर्षण से हीन मनु बच रहे जिस स्थिति में भी सृष्टि सृजन की अबाध धारा आगे न बढ़ पाई।

अकेले तुम कैसे असहाय
यजन कर सकते ? तुच्छ विचार ?
तपस्वी ! आकर्षण से हीन
कर सके नहीं आत्म विस्तार ॥ (कामायनी)

तपस्वी ठूँठा वृक्ष है और कर्मशील वटवृक्ष के समान हरा वृक्ष है जो प्रकृति के अन्य अङ्गों से सरलता के साथ सम्बन्ध जोड़ लेता है जो ठूँठ वृक्ष के लिये सम्भव नहीं। तपस्वी मनु शक्ति विहीन शिव रूपी है जिसमें तपस कला की प्रधानता है और शक्ति, जो आनन्द कला है, का सामरस्य नहीं हो पाया है जिससे दुखी है जिस प्रकार शिवजी स्वेच्छा से अपने में आकर्षण उत्पन्न करते हैं और शक्ति का आगमन होता है जिसमें आनन्द की सृष्टि होती है उसी प्रकार मनु के हृदय में प्रेम की उत्पत्ति होने से श्रद्धा के साहचर्य द्वारा सृष्टि का विकास-क्रम आगे बढ़ा। प्रसाद जी पूर्णतः आनन्दवादी हैं जो कहीं-कहीं भोग-वाद की सीमा तक भी पहुँच गया है। मानव-जीवन को गतिमान बनाने वाली श्रद्धा के द्वारा उन्होंने जीवन की वास्तविकता प्रेम-कला का प्रतिपादन किया।

'तप नहीं केवल जीवन सत्य
करुण यह क्षणिक दीन अवसाद ,
तरल आकांक्षा से है भरा
सो रहा आशा का आह्लाद।' (कामायनी)

बाद में मनु तपस्या को छोड़ कर आँधी की भाँति विलास की ओर बढ़ते हैं तो वहाँ भी उन्हें हार मिलती है क्योंकि वह भी मध्यम मार्ग न रहकर एक सीमा को पहुँच गया था। उन्होंने देवताओं के प्रणय मार्ग को अपनाया जिसकी निस्सारत्ता की ओर कामा ने संकेत भी किया है।

तुम अति अबोध, अपनी अपूर्णता को न स्वयं तुम समझ सके।
परिणय जिसको पूरा करता उससे तुम अपने आप रुके॥
(इड़ा सर्ग)

समरसता सिद्धान्त का प्रेम-कला व्यावहारिक पक्ष है। इसमें अधिकार और अधिकारी की अवस्था नहीं होती। समरसता की अवस्था से ही आनन्द की सृष्टि होती है। आरम्भ से ही उनकी रचनाओं आँसू आदि में समरसता का आग्रह पाया जाता है परन्तु उसे सैद्धान्तिक रूप कामायनी में ही मिला। कहानी, उपन्यास और नाटक आदि सब स्थानों पर उन्होंने समरसता की व्याख्या की है। प्रेम पथिक में भी उन्होंने हिमालय को आदर्श माना है

जिससे स्नेह की गंगा बहती है और विशाल मरुस्थल की अवहेलना की। इस प्रकार इनकी समस्त रचनाओं में प्रायः व्यवहारिक पक्ष में प्रेम और दार्शनिक पक्ष में समरसता के सिद्धान्त का आग्रह है। 'कामायनी' में तीन में समरसता की स्थापना की गई है जो बौद्धों से चला है। इसके पात्र ऐतिहासिक भूमिका में मनोवृत्तियों के भी प्रतीक हैं। इसमें मानवता का रसमय इतिहास तो वर्णित है ही साथ ही साथ मानव मनोवृत्तियों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन भी है। मनु मन के प्रतीक हैं और श्रद्धा हृदय की। इसके साथ ही इच्छा, कर्म और ज्ञान जो मानवमन की शाश्वत वृत्ति हैं की गति विधियों का मनोवैज्ञानिक लेखा लिया गया है। इनका वैभिन्न ही दुख का कारण होता है और जब ये अभिनत्व को प्राप्त होते हैं तो उस सामरस की स्थिति से आनन्द की प्राप्ति होती है।

ज्ञानदूर कुछ क्रिया भिन्न है
इच्छा क्या पूरी हो मन की
एक दूसरे से न मिल सके
यह विडम्बना है जीवन की (कामायनी)

स्वच्छन्दतावादी काव्यों की प्रमुख धारा प्रेम परक रही है। 'प्रसाद जी' के सम्पूर्ण काव्यों की आदि भूमिका प्रेम परक है। वे पूर्णतः मानवीय भावनाओं के प्रेमी कवि हैं। कामायनी तो प्रेम का सन्देश देने के लिए लिखी ही गयी है किन्तु उनकी अन्य रचनाओं में भी इसी मूल वृत्ति को पकड़ा गया है। वे प्रेम को ही जीवन का सर्वस्व मानते हैं।

किसी मनुज का देख आत्मबल कोई चाहे कितना ही
करे प्रशंसा, किन्तु हिमालय-साही जिसका हृदय रहे
और प्रेम करुणा गंगा-जमुना की धारा बही नहीं,
कौन कहेगा उसे महान् ? न मरु में उसमें अन्तर है।

रीतिकालीन श्रृंगारी भावनाओं के स्थान पर काव्यों में प्रेम की प्रतिष्ठा आधुनिक युग की देन है। प्रसाद जी के प्रेम की मुख्य तीन कोटियाँ हैं। उनके प्रेम की प्रथम श्रेणी तो वह है जिसके अन्दर उनकी विरह वेदना ही मुखर हुई है। जिस प्रिय का अभाव कवि को असह्य हो गया है वह प्रिय महादेवी वर्मा का सा नहीं है कि जिसका कभी साक्षात्कार ही नहीं हुआ बल्कि ऐसा प्रिय है जिसके साहचर्य का लाभ उठाने का उन्हें गर्व है। प्रेम की दूसरी श्रेणी विरह की वह स्थिति है जिसमें आत्मतुष्टि के लिये वह पूर्व मिलन को महत्व देता जान पड़ता है जिससे उसके अभाव के आँसू असमर्थता

के आँसू नहीं रह जाते बल्कि वे गौरवपूर्ण बन जाते हैं। इसके अतिरिक्त प्रेम की तीसरी श्रेणी में आनन्द की वह स्थिति है जब प्रिय का मिलन हो जाता है।

मिल गये प्रियतम हमारे मिल गये।
यह अलस जीवन सफल अब हो गया॥
कौन कहता है जगत है दुःखमय?
यह सरस संसार सुख का सिन्धु है॥
इस हमारे और प्रिय के मिलन से।
स्वर्ग आ कर मेदिनी से मिल रहा॥

किन्तु हम देखते हैं कि प्रसाद जी की जिज्ञासा अन्त नहीं जानती। प्रिय से मिल जाना तथा उसका साहचर्य प्राप्त कर लेना ही उनके लिये सब कुछ नहीं है बल्कि उनका कुतूहल आगे बढ़ता ही रहता है और यह जिज्ञासा उनके मन में उठती रहती है कि अभी कुछ और शेष है जो जानना है। यही जिज्ञासा का भाव स्वच्छन्दतावादी कविताओं का प्राण है।

नित्य परिचित हो रहे तब भी रहा कुछ शेष;
गूढ़ अन्तर का छिपा रहता रहस्य विशेष।
दूर जैसे सघन वन-पथ अन्त का आलोक;
सतत् होता जा रहा हो नयन की गति रोक। (कामायनी)

प्रसाद जी ने अभाव जन्य दुःख और मिलनोद्भूत सुख को समान महत्व दिया है।

मानव-जीवन-वेदी पर परिणय है विरह मिलन का।
सुख दुख दोनों नाचेंगे, है खेल आँख का, मन का॥

वे दुख से दूर नहीं भागना चाहते बल्कि उसे जीवन के लिये वरदान स्वरूप मानते हैं।

जिसे तुम समझे हो अभिशाप,
जगत की ज्वालाओं का मूल;
ईश का वह रहस्य वरदान,
कभी मत इसको जाओ भूल;
(कामायनी)

सुख और दुख की स्थिति जीवन में दीर्घकाल तक बनी रहे कवि इसका भी समर्थक नहीं है, बल्कि वह दोनों में सामंजस्य स्थापित करना चाहता है।

हो उदासीन दोनों से दुख सुख से मेल करायें,
ममता की हानि उठा कर, दो रूठे हुए मनायें।

कवि का जीवन प्रेम की वृत्ति में इतना रम गया है कि वह जीवन के सभी व्यावहारिक पक्षों को भी उसकी ही तुला पर तौलता जान पड़ता है। उसके काव्य के अन्य जितने उपादान हैं वे प्रेमाभिव्यक्ति के सहायक होकर ही आये हैं। विषय-वस्तु की दृष्टि से काव्य के लिये मानव के पश्चात् प्रकृति का स्थान है। संस्कृत साहित्य के पश्चात् जो थोड़ी बहुत प्रकृति चित्रण की परम्परा हिन्दी काव्यों में चली जा रही थी वह भी रीतिकालीन युग के कवियों के हाथों में पड़ कर एक मात्र उद्दीपन रूप में ही शेष रह पायी, जिसका पुनरुद्धार आधुनिक युग के स्वच्छन्दतावादी कवियों द्वारा हुआ। इन कवियों को नायिकाओं से अवकाश मिल गया है जिससे वे अपने आस-पास देख-भाल कर प्रकृति का यथार्थ चित्रण करने लग गये हैं। प्रसाद जी की रचनाओं में प्रकृति प्रभूत मात्रा में विद्यमान है किन्तु हमें इनके काव्यों में प्रकृति के आलम्बन और उद्दीपन दोनों रूप प्राप्त हो जाते हैं। जैसा कि अन्य हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी कवियों में कम ही मिलता है। किन्तु इनकी जो सबसे बड़ी विशेषता है वह यह कि इन्होंने प्रकृत चित्रण के लिये परम्परित रूढ़ियों को नहीं अपनाया है।

जयशंकर प्रसाद ने प्रकृति के अन्य पक्षों के चित्रण में जितनी तत्परता दिखाई है उतनी उसके स्वतन्त्र दर्शन में नहीं। प्राकृतिक दृश्यों की अनुभूति का भाव उनके अन्तर में इतना अधिक है कि वे लुभावनी छटाओं को देखकर चमत्कृत हो उठते हैं।

मधुर है स्रोत, मधुर है लहरी।
न है उत्पात, छटा है छहरी॥
कठिन गिरि कहाँ विदारित करना।
बात कुछ छिपी हुई है गहरी।
मधुर है स्रोत, मधुर है लहरी॥

(झरना)

प्रकृति को उपमा और रूपक के रूप में प्रस्तुत करने का सफल कार्य कालिदास के पश्चात् 'प्रसाद' जी द्वारा ही हुआ। किसी वस्तु या व्यक्ति का वर्णन करने के लिये उपमाओं और रूपकों की आवश्यकता होती है जिसका

अक्षय कोष प्रकृति है। प्रकृति को इस रूप में प्रस्तुत करनेवाले आधुनिक कवियों में प्रसाद जी का स्थान सर्वोच्च है।

खेल खेलकर खुली हृदय की कली मधुर मकरन्द हुआ।
खिलता था नव प्रणयानिल से नन्दन-कानन का अरविंद॥
विमल हृदय आकाश-मार्ग में अरुण विभा दिखलाता था।
फैल रही थी नव-जीवन सी वसन्त की सुखमय सन्ध्या॥
खेल रही थी नव सरवर में तरी पवन अनुकूल लिये।
सम्मोहन बंशी बजती थी, नव तमाल के कुञ्जों में॥

(प्रेम पथिक)

किन्तु जब कभी प्रकृति का मादक प्रभाव हृदय को अत्यधिक अभिभूत कर देता है तो उसे भी वे सच्चाई के साथ स्वीकार कर लेते हैं।

छोटे छोटे कुञ्जतलहटी गिरि कानन की शस्य भरी।
भर देती थी हरियाली ही हम दोनों के हृदयों में॥

(प्रेम पथिक)

प्रसाद जी के काव्यों में प्रकृति चित्रण की जो सबसे बड़ी सफलता रही है वह प्राकृतिक पदार्थों के मानवीय-करण की। 'कामायनी' का सारा का सारा प्रकृति चित्रण ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है। जहाँ पर कवि ने भावनाओं एवं मनोवृत्तियों को अद्भुत मानवी स्वरूप प्रदान किया है, वहीं पर उसने प्राकृतिक उपादानों का जीवन्त चित्र ही नहीं खींचा है बल्कि उसे ऐसा मानवी स्वरूप प्रदान किया है कि भ्रम हुए बिना नहीं रहता। यही उनकी काव्य-कला का सबसे बड़ा रहस्य है जिसमें न तो प्राचीन रूढ़ियों का योग है और न तो शास्त्रीय नियमों का पालन, बल्कि कवि की अपनी उर्वर प्रतिभा एवं अद्भुत कल्पना का चमत्कार है। जब कवि कहता है—

बीती विभावरी जाग री।
अम्बर पनघट में डुबो रही॥
तारा घट उषा नागरी।

तो एक सुकोमल-सुन्दर एवं मोहक नारी रूप सामने उपस्थित हो जाता है। इसके अतिरिक्त जहाँ कहीं भी उन्हें प्राकृतिक छटाओं का वर्णन करना पड़ा है प्रायः उन्होंने यही शैली अपनाई है। जहाँ कहीं भी उन्हें रात्रि का चित्र खींचना पड़ा है कहीं भी उन्होंने उसे न तो द्रोपदी की चीर कहा है और न तो विषैली काली नागिन ही। उसे केवल मानवी स्वरूप ही नहीं प्रदान

किया है बल्कि उसके आभूषणों आदि तक को भी मानवीय ढंग से प्रस्तुत किया है—

विश्व कमल की मृदुल मधुकरी
रजनी तू किस कोने से;
आती चूम-चूम चल जाती
पड़ी हुई किस टोने से।
× × ×
पगली हाँ सम्हाल ले कैसे
छूट पड़ा तेरा अञ्चल;
देख, बिखरती है मणिराजी
अरी उठा बेसुध चञ्चल।
फटा हुआ था नील वसन क्या
ओ यौवन की मतवाली!
देख अकिंचन जगत लूटता
तेरी छबि भोली-भाली।

(कामायनी, आशा खण्ड)

चिरन्तन काल से नारी काव्य की गति विधि को आगे बढ़ाती रही है। प्रत्येक युग में तत्कालीन सामाजिक मान्यता एवं आवश्यकता के आधार पर काव्यों में नारी रूप का चित्रण होता रहा है। ईसा की यह बीसवीं शताब्दी नारी जाति के इतिहास में विशेष महत्व रखती है। नारी जीवन में परिवर्तन लाने की जितनी प्रबल क्रान्ति इस युग में हुई है उतनी अनेक युगों में मिल कर नहीं हो सकी। उसकी आँखों द्वारा खिड़कियों से देखा हुआ संसार अब इतना विस्तृत हो गया है कि उसके अन्दर उसके लाज संकोच तथा अवगुंठन के झीने पट आत्मसात् होते जा रहे हैं। अब वह पुरुषों की गुलाम नहीं रह गयी है बल्कि उनसे समानता का दावा रखती है और घर की चहारदीवारी से निकल कर सभा मञ्चोंतक पहुँच चुकी है। इस नारी-आन्दोलन को इतनी जो तीव्रता मिली है उसमें आधुनिक युग के कवियों एवं साहित्यकारों का विशेष हाथ है। मुख्यतः कवियों के मन में यह प्रतिक्रिया रीतिकालीन कविता के विरोध में हुई। नारी के सौन्दर्य, सामाजिक महत्व, व्यवहारिक पक्ष तथा गार्हस्थ्य जीवन आदि के सभी रूपों में महान् परिवर्तन उपस्थित हुआ है। 'प्रसाद' जी का स्थान उन कवियों में सर्व-प्रथम है जिन्होंने नारी जाति के अधिकारों की वकालत की है। इन्होंने अपने काव्य में नारी के पत्नी, प्रेयसी,

गृहणी आदि रूपों का चित्रण तो किया ही है उसके साथ ही साथ उसके सौन्दर्य की जो कल्पना की है वह निश्चित ही हिन्दी काव्य-शैली को एक अपूर्व देन है। उन्होंने नारी-रूप का जो दृष्टिकोण अपनाया है उसमें उन रीतिकालीन सभी उपमानों का बहिष्कार है जिसके लिये कदली खम्भों, श्रीफलों तथा विषैली नागिनियों की आवश्यकता होती थी। उन्होंने अत्यन्त अछूती उपमाओं के साथ नारी के रूप और उसकी विशेषताओं का चित्रण किया है।

उषा की पहली लेखा कान्त,
माधुरी से भींगी भर मोद,
मद भरी जैसे उठे सलज्ज
भोर की तारक द्युति को गोद।
कुसुम-कानन अञ्चल में मन्द
पवन प्रेरित सौरभ साकार,
रचित परमाणु पराग शरीर
खड़ा हो ले मधु का आधार।

(कामायनी, श्रद्धाखण्ड)

मङ्गल कुंकुम की श्री जिसमें
निखरी हो उषा की लाली,
भोला सुहाग इठलाता हो
ऐसी हो जिसमें हरियाली।

(कामायनी, लज्जा)

रीतिकाल के कवियों ने नारी के जिस सौन्दर्य को ज्वालामय चित्रित किया था 'प्रसाद' जी ने उसी सौन्दर्य को शान्ति और शीतलता प्रदान करने वाला चित्रित किया है। उन्होंने सौन्दर्य को अनिर्वचनीय सत्ता के रूप में स्वीकार करते हुये उसे चेतना का उज्ज्वल वरदान कहा है जिसमें स्वप्नों की साकारता स्थित रहती है।

उज्जवल वरदान चेतना का
सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं;
जिसमें अनंत अभिलाषाओं के
सपने सब जगते रहते हैं।

(लज्जा सर्ग)

सौन्दर्य की सम्भावित कल्पना भी उन्होंने की है किन्तु साथ ही साथ उन्हें उसकी सम्भावना में बराबर सन्देह भी बना रहा है।

अम्बर चुम्बी हिम-शृंगों से
कलरव कोलाहल साथ लिये;
विद्युत की प्राणमयी धारा
बहती जिसमें उन्माद लिये।

नारी की असमर्थता तथा पुरुष की उपेक्षा को 'प्रसाद' जी ने दोनों की समानता में ही नहीं बदला है बल्कि नारी को कुछ अंशों में पुरुष से अधिक समर्थ चित्रित किया है। यही कारण है कि श्रद्धा के प्रेरक उपदेश ही हताश मनु को जीवन यात्रा में निरत करते हैं। 'प्रसाद' जी ने इसका पूर्ण अनुभव किया था कि पुरुष की उपेक्षा और वियोग में नारी बहुत आँसू गिरा चुकी है अब उसे भी तिरस्कार का अवसर मिलना चाहिये।

यह तीव्र हृदय की मदिरा
जी भर कर छक कर मेरी;
अब लाल आँख दिखला कर
मुझको ही तुमने फेरी।

(आँसू)

इसके साथ ही साथ वे नारी को भी उसके कर्तव्यों के प्रति जागरूक रखने के लिये आदेश सा देते जान पड़ते हैं।

आँसू से भींगे अञ्चल पर
मन का सब कुछ रखना होगा;
तुमको अपनी स्मिति रेखा से
यह सन्धि पत्र लिखना होगा।

(कामायनी)

'प्रसाद' जी मानवतावादी कवि थे। यही कारण है कि उन्होंने उन सभी थोथी मर्य्यादाओं तथा बन्धनों का तिरस्कार किया है जो मानवता के विकास में विघ्न उपस्थित करते हैं और उन्होंने अपने काव्य में अपनी स्वच्छन्द कल्पना के बल से मानवता के भावी सुख का मार्ग भी दिखाया है।

कविवर 'प्रसाद' को कोमल भावों के कलाकार के रूप में ही अधिक स्वीकार किया जाता है पर कवि की महान प्रतिभा को किसी सीमा विशेष में आवद्ध कर देना समीचीन नहीं जान पड़ता, सो भी ऐसे कवि के लिये जिसने "कविता की क्यारियों को अपने अन्तस्तल के आँसू से सींचा है, जिसका हृदय झरना बनकर लगातार माता के चरणों को धोता रहा है और जो प्रेम पथिक के रूप में कानन कुसुम चयन करता हुआ भाव समुद्र में लहरों का उठना-

गिरना देखता रहा है, वह इतिहास के उन शुष्कमरुस्थलों और टूटे-फूटे स्मशानवत् द्रुहों में भी चक्कर काटता रहा है, जो अतीत को वर्तमान से मिलाते और हमारे अन्दर अनेक सुप्त स्मृतियों को जगाते हैं।" इतिहास के ध्वंशावशेषों में भी समान मस्ती के साथ रमने वाले कविवर 'प्रसाद' कवि दृष्टि से भावना और विज्ञान के समन्वय की प्रतिभा बन कर काव्य जगत में उपस्थित हैं। उनकी काव्य साधना का संपूर्ण आधार जीवन की एक श्रेष्ठ बौद्धिक धारणा पर आधारित है। 'प्रसाद' जी के हृदय में कवि का विकास ही प्राकृतिक भावोच्छ्वास को लेकर हुआ है। प्रकृति प्रेम इनके काव्य में एक जिज्ञासा के रूप में आता है। वे प्रकृति की रमणीयता पर मुग्ध अवश्य हैं पर इस आकर्षण में वे अपने को ज्यों का त्यों सुरक्षित रखते हैं। भारत की प्राकृतिक सुषुमा में वे राष्ट्रीय चेतना का उद्बोधन कराना नहीं भूल पाते। द्रष्टा प्रसाद की आँखों में प्रश्न की एक रेखा है जिससे वे जो कुछ भी देखते हैं उससे उनके हृदय में रसोद्रेक होता अवश्य है पर उसकी मात्रा इतनी नहीं कि वह उनके मन प्राण को डुबा दे। कवि का मस्तिष्क विद्रोह कर उठता है, वह पूछता है यह सब क्या है? इसे कौन कर रहा है? जिसके इन प्रश्नो का कोई समाधान मिलता नहीं जान पड़ता। यह अतृप्त जिज्ञासा प्रकृति के साथ कवि-हृदय का मेल नहीं होने देती, जिससे वह उसकी शोभा और रमणीयता तक ही रह जाता है, दोनों के बीच जिज्ञासा की दीवार खड़ी है, सौन्दर्य का भार विकसित और व्यापक नहीं होता। 'प्रसाद' का दार्शनिक और कवि रूप कहीं भी समिन्वत नहीं हो पाता।

प्रकृति की गोद में चलने वाले कार्यव्यापारों को देखकर मानव जीवन की विषमता को समाधान का स्वर प्रदान करने के लिये 'प्रसाद' जी किसी एक निष्कर्ष पर पहुँचने की चेष्टा भी करते हैं। अस्थिर चित मानव की स्थिति मधुप की सी ही है—

मधुप कब एक कली का है?
पाया जिसमें प्रेम रस, सौरभ और सुहाग,
बेसुध हो उस कली से, मिलता भर अनुराग।
बिहारी कुंज गली का है!

कुसुम धूल से धूसरित चलता है उस राह,
काँटों में उलझा तदपि रही लगन की चाह,
बावला रंग रली का है।

हो मल्लिका, सरोजनी, या यूथी का पुंज
अलिको केवल चाहिये, सुखमय क्रीड़ा कुंज,
मधुप कब एक कली का है !

इसमें संदेह नहीं कि अँग्रेजी के कवि वर्डसूवर्थ के समान प्रकृति के साथ उनका निसर्ग सिद्ध तादात्म्य नहीं दीख पड़ता, प्रत्येक पुष्प में उन्हें वह प्रीति नहीं जो वर्डसवर्थ को थी। प्रत्येक पर्वत, प्रत्येक घाटी उनकी आत्मीया नहीं। वे प्रत्येक पक्षी को प्यार नहीं करते। उनका प्रेम रमणीयता से है, प्रकृति से नहीं। वे सुन्दरता में रमणीयता देखते हैं, उस सुन्दरता के सम्बन्ध में उनकी भावना रति की भी है और जिज्ञासा की भी। रति उनका हृदय पक्ष है और जिज्ञासा मास्तिष्क पक्ष।"[1] पर इसी जिज्ञासा के कारण ही तो वे जड़ में चेतन का आभास पाते हैं। सामाजिक बन्धनों की निरुपायता में जब 'प्रसाद' जी का कवि विह्वल हो उठता है तो वह स्वयं को तृप्ति देने के लिये अपनी अनुभूतियों को वाणी देने लग जाता है। उस समय प्रकृति के सहारे ही तो वह सामाजिक निस्सारता की चर्चा कर पाता है—

निकल मत बाहर दुर्बल आह !
लगेगा तुझे हँसी का शीत
शरद नीरद माला के बीच
तड़प ले चपला-सी भयभीत

पड़ रहे पावन प्रेम फुहार
जलन कुछ कुछ है मीठी पीर
सँभाले चल कितनी है दूर
प्रलय तक व्याकुल हो न अधीर

अश्रुमय सुन्दर विरह निशीथ,
भरे तारे न ढुलकते आह !
न उफनादे आँसू हैं भरे,
इन्हीं आँखों में उनकी चाह।

काकली सी बनने की तुम्हें
लगन लग जाय न हे भगवान,
पपीहा का पी सुनता कभी ?
अरे कोकिल की देख दशान,

---

१. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी।

हृदय है पास साँस की राह
चले आना जाना चुपचाप
अरे छाया बन छू मत उसे
भरा है तुझमें भीषण ताप
हिलाकर धड़कन से अविनीत
जगा मत सोया है सुकुमार
देखता है स्मृतियों का स्वप्न,
हृदय पर मत कर अत्याचार। (चन्द्रगुप्त)

ऐसे प्रसंगों से यदि प्रकृति को निकाल लिया जाय तो कलात्मकता के साथ-साथ भावगांभीर्य भी समाप्त हो जायगा और पारिस्थितियों की जिन विकटताओं का चित्रण कवि करना चाहता है उसका भी रंग फीका पड़ जायगा। इस प्रकार 'प्रसाद' के कवि ने युग की माँगों को न तो अस्वीकारा है और अभिव्यक्ति के लिये न तो उन्होंने परिस्थितियों से आँखें ही मूद ली हैं। आँसू में पुराने रंग अधिक हैं पर झरना की अपेक्षा अधिक पुराना रंग लेकर भी आँसू काव्य में प्रसाद की निकटतर अभिव्यक्ति है। इसमें रहस्यवाद, छायावाद नहीं है और इसीलिये यह काव्य अधिकाधिक लोक प्रिय भी हो सका है। आँसू में जहाँ यौवन के उद्दाम विलास के अवरुद्ध हो जाने का क्रन्दन है वहाँ उसके यौवन का उतना उभार नहीं है, पर इसमें सन्देह नहीं कि निर्माण की भूमिका में प्रविष्ट होकर कवि ने अपने जीवन का सर्वगाही प्रेम आत्मसात कर लिया है जिसके कारण ही जन-जन का हृदय स्पर्श करने में आँसू की पंक्तियाँ अधिक समर्थ हो सकी हैं। 'प्राचीन यौवन विलास में वैभव की समाधि पर ही विरह का यह कलापूर्ण स्मारक खड़ा है। आँसू में कवि-मानस की सशक्त अभिव्यक्ति हुई है।' 'प्रसाद' में ऐसी आकर्षक पीड़ा है जिसके गर्भ में उषा की हलकी लज्जा झाँकती हुई ऐसी मनोरम दीखती है कि सहृदय पाठक के मन में आशा का संचार हुये बिना नहीं रह पाता। इसमें मानस में चलने वाले युद्ध की छाया तो है ही पर उसके साथ ही साथ कवि का निहित सन्देश भी है। उसमें परिस्थिति के प्रति विद्रोह भी है और जीवन के साथ समझौता भी है, आशा-निराशा, वियोग-संयोग, तथा उत्थान और पतन आदि सबको प्रसाद-काव्य में प्रतिनिधित्व मिला है। 'प्रसाद' जी मानव भावनाओं के कवि हैं। 'प्रसाद' में कभी भी ऐसा व्यथा-चित्र नहीं मिलता जो एक अकिंचन का हो,.....यहाँ तो वियुक्त प्रेमी हृदय प्रियतम की याद में ही नहीं, बल्कि मिलन सुख से पूर्ण वह अतीत जिस वैभव से जगमग था उसको खोकर भी

रोता है। मर्म बहुत कम स्थलों पर जीवन से उठ सका है। उनके काव्य पर उनके खोये हुये किन्तु कभी भी विस्मृत न होने वाले अतीत वैभव की छाया है। 'आँसू' में कवि को सफलता इसलिये मिली है कि उसके विरह में भी मिलन की स्मृति अधिक शक्तिमान है। 'आँसू' विरह काव्य के साथ ही साथ स्मृति-काव्य भी है।'

यह स्वाभाविक है कि जब कवि जीवन से भागना चाहता है तो वह भावों की सघनता के कारण भागने मे असमर्थ हो जाता है। सुख-दुख, आशा-निराशा, छाया-प्रकाश तथा कथाओं के बीच गिरते, उठते, रोते, हँसते, उसे सामाजिक जीवन का निर्वाह करना ही पड़ता है। उसने मानस से अतुल शक्ति से पूरित हो उठने के लिये उमड़ते हुये विफल व्यक्तित्व का जो उल्लास है उसकी रेखायें स्मृति-पट पर अवश्य पड़ती हैं। विरहकाव्य तबतक अपूर्ण है जबतक वह हमें, हमारे दुखों और अभावों के बीच भी आशा और उल्लास का सन्देश न दे। 'आँसू' में 'प्रसाद' जी ने मानव जीवन का वह चिरन्तन सत्य देखा है जो वेदनाओं के बीच पड़कर ग्रन्थि के रूप मे नहीं परिणत होता बल्कि सबका पोषण प्राप्त कर और भी दृढ़ एवं जागरूक होता है। 'आँसू' के छन्द मानव जीवन के प्रणय गीत हैं। भाषा, माधुर्य, भावों की बहुलता एवं सुन्दर उपमाओं तथा कल्पना की कोमलता से पूर्ण आँसू की कतिपय पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

भाषा की मधुरता—छिल छिलकर छाले फोड़े मल मल कर मृदुल चरण से।
धुल धुल कर वह रह जाते आँसू करुणा के कण से॥

उपमा-कल्पना—
शशि मुख पर घूंघट डाले अंचल में दीप छिपाये।
जीवन की गोधूली में कौतूहल से तुम आये॥
काली आँखों में कितनी यौवन के मद की लाली।
माणिक मदिरा से भर दो किसने नीलम की प्याली॥
मुख-कमल समीप सजे थे दो किसलय दल पुरइन के।
जलविन्दु सदृश ठहरे कब इन कानों में दुख किनके॥

विरह का तत्वज्ञान—छलना थी तब भी मेरा उसमें विश्वास घना था।
उस माया की छाया में कुछ सच्चा स्वयं बना था॥
तुम सत्य रहे चिर सुन्दर मेरे इस मिथ्या जगके।
क्या कभी न थे तुम साथी कल्याण कलित इस मगके॥

उपरोक्त पद्यों में रूप वैभव एवं विलास का बड़ा ही उत्कृष्ट काव्य-मय वर्णन है। निराशा एवं व्यथा के तिमिर को काट कर आशा की कोमल शक्ति-दायिनी किरणे प्रसार पाती दीख पड़ती हैं। विरह-मिलन को जीवन के सामान्य

क्रम में ग्रहण करते हुये 'प्रसाद' जी ने अन्तिम पंक्तियों में वेदना के बोझ से दबे हुये रहने पर भी ऊपर उठने की चेष्टा की है।

मानव जीवन वेदी पर परिणय है विरह मिलन का।
सुख दुख दोनों नाचेंगे है खेल आँख का मन का॥
विस्मृति समाधि पर होगी, वरषा कल्याण जलद की।
दुख सोया थका हुआ सा चिन्ता छुट जाय विपद की॥
चेतना लहर न उठेगी, जीवन समुद्र थिर होगा।
संध्या हो सर्ग प्रलय की विच्छेद मिलन फिर होगा॥

प्रेम और आशा-निराशा की मंगल साधना में ही काव्य और कवि के शक्ति की परीक्षा होती है जिसमें 'प्रसाद' का कवि खरा उतरा है। हम देखते हैं कि आँसू के बाद उनके काव्य में आशा का प्रबल स्वर भी सुनाई दे जाता है। इनकी रचनाओं को देखकर यह निश्चय हो जाता है कि स्रष्टा ने यौवन के क्षणों को जिन्दादिली के साथ केवल बिताया ही नहीं है बल्कि उसमें ओत-प्रोत भी रहा है। "प्रेम यौवन की कुंजगली से निकल कर जीवन यात्रा के रजतपथ पर वह आ गया है। उसने आशा व प्रकाश के साथ ही साथ अपनी मानवता की विजय यात्रा भी आरंभ कर दी है। मानवता की यह विजय यात्रा 'कामायनी' में आकर पूर्ण होती है।"

'कामायनी' में 'प्रसाद' जी का कवि, दार्शनिक, चिन्तक और कलाकार, सब पक्ष साकार हो गया है। इस काव्य में मानवता को कलाका रूप दिया गया है। कवि जीवन के रहस्यात्मक तत्वों तक प्रवृष्ट हो जाता है। प्रसाद के इस काव्य में दर्शन, चिन्तन, जीवन और कला का अद्भुत समन्वय मिलता है। लहर में तो कवि ने चिर आनन्द का संदेश ही दिया है।

सुमित्रानन्दन पन्त

हिन्दी साहित्य में काव्य की स्वच्छन्दधारा के प्रवर्त्तकों में श्री सुमित्रानन्दन पन्त का नाम अग्रगण्य है। काव्य की स्वच्छन्दधारा का पूर्ण विस्तृत और सलिलमय रूप हमें सर्व प्रथम पन्त जी के ही काव्य में दिखाई देता है। इनके पूर्व दो एक कवियों ने रीति की दृढ आबद्ध शृंखलाओं को झनझनाने का प्रयत्न अवश्य किया था पर उन्हें यथोचित सफलता नहीं मिल सकी थी। समस्त रूढ़ियों, समस्त बन्धनों एवं समस्त दूषित मान्यताओं को सहसा ठुकरा कर कल्पना के रेशमी कलेवर में पंख फड़फड़ाता हुआ यह कवि-विहंग उन्नत और उस विस्तृत फैले हुए लोक की ओर उड़ चला जहाँ चाँद और सितारों का देश है, जहाँ ठण्डी-ठण्डी हवा आत्मा तक को शीतल कर देती है, जहाँ सिर उठाये हुए विशाल पर्वत खड़े हैं, जहाँ कल्पनालोक की परी आकर कवि के लम्बे घुघराले बालों में अपनी कोमल-कोमल शीतल अंगुलियाँ डाल देती है। जिस युग में यह बालविहंग कवि पैदा हुआ उस युग को ऐसी उड़ान-स्वीकार नहीं थी। अगर वह कुछ ऊपर उठना भी चाहता था तो केवल डोर की पतंग की तरह जिसकी सीमायें निश्चित हैं। पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी, अयोध्या सिंह उपाध्याय ऐसे महारथी उस समय साहित्य की डोर पकड़े हुए थे। काव्य की इस नई धारा के वे एक स्वर से विरोधी थे। पर इस काव्य में एक जादू था, एक विह्वल आकर्षण था जो उनको भी खींच लेता था। स्वयं द्विवेदी जी के सम्पादकत्व में 'सरस्वती' के मुख पृष्ठ पर 'पन्त' जी की कवितायें छपा करती थीं।

पन्त जी की कविता की मूल प्रेरणा प्रकृति है। प्रकृति की गोद में पला हुआ कवि उसे छोड़ने में मजबूर है। जीवन का कठिन कर्म क्षेत्र मजबूरन उसे अपनी ओर खींचता है। ऐसी खींचातानी में कवि के आँखों में आँसू आ जाते हैं। प्रकृति के साथ उनका प्राण भींग कर एक हो गया है। काव्य में प्रकृति चित्रण आधुनिक युग में पं० श्रीधर पाठक से आरम्भ होता है। उन्होंने ही समझ लिया था कि स्वच्छन्दता का अर्थ प्रकृति का प्रांगण है। इसे 'पन्त' जी ने एक नई दृष्टि से समझा। रोमांटिक कविताओं में मनोभावों को उद्दीप्त करने की एक अपूर्व क्षमता होती है और यदि कहा जाय कि भूमिवत् प्रकृति को ही सारा का सारा श्रेय है तो अत्युक्ति न होगी। प्रकृति के विविध रंगीन

दृश्य, झरने, नाले, नदी, पहाड़, बादल, वृक्ष आदि अनजाने में ही मनुष्य के हृदय में एक रूमानी भावना का प्रस्फुरण कर देते हैं। इन्हें देख कर मनुष्य अपने को खो बैठता है। उसे एक अपूर्व आनन्द का अनुभव होने लगता है। उसकी अर्धचेतना में पड़ी हुई सौन्दर्य भावना को खुलकर सामने आ जाने का अवकाश मिल जाता है। उस समय ऐसा जान पड़ता है कि इन्द्रियों के समस्त बन्धन ढीले पड़ गए हैं। इन्द्रियों में एक अद्भुत प्रसार आ जाता है। कभी-कभी तो इन्द्रियों के कार्य भी बदल जाते हैं।

पन्त जी के समस्त काव्य में प्रकृति आवरण बन कर छाई हुई है। कितनी रचनायें उनकी सर्वथा प्रकृति के ऊपर ही हैं। उसका विविध रूप उनके मन को मोह लेता है। उनका समस्त क्रियाकलाप प्रकृतिमय है। 'पल्लव' में प्रकृति इतने उभार के साथ एवं रंजित रूप में सामने आई है कि देखते ही बनता है। कवि चिरप्रकृति सेवक और एकान्त भ्रमण प्रेमी है। उसे निराशा तब होती है जब कोमल भावनाओं को जगाने वाला—

'न पत्रों का मर्मर संगीत
न पुष्पों का रस राग-पराग' (मिलता है।)

'पल्लव' की कवितायें नवीन किसलय हैं। जो बासन्ती वायु के मीठे झोंके में लहरा रही है। उन्होंने अपनी सुध बुध खो दी है।

नारी समस्त काव्य की प्रेरणा है, पर कवि प्रकृति के सम्मुख नारी के रूप-जाल में भी उलझने से मजबूर है।

'छोड़ द्रुमों की मृदु छाया
तोड़ प्रकृति से भी माया
बाले तेरे रूप जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन।

मनुष्य की भाँति कवि को प्रकृति में भी एक संवेदनशील हृदय मिला जो मनुष्य की भावुकता से खेलता है, उसे सजाता है।

बाल काल में जिसे जलद से कुमुद कला ने किलकाया
तारावलि ने जिसे रिझाया मृदु स्वप्नों से सहलाया
मारुत ने जिसके अलकों में चंचल चुम्बन उलझाया।

प्रकृति के कोमल पक्ष में कवि का मन अधिक रमता है। 'परिवर्तन' आदि कवितायें केवल खानापूरी हैं जो कवि के कौशल से चमक उठी हैं। प्रकृति के रुक्ष रूप से रूमानी भावनाओं का जागरण होना तनिक कठिन है। रोमांस और भय का सामञ्जस्य अधिक उपयुक्त नहीं बैठता। इसीलिए 'पन्त'

जी कोमल रूप ही को अधिक पकड़ते हैं। प्रकृति का प्रत्येक दृश्य पाठक के सामने नाचता है। ऐसा मालूम होता है जैसे उसने यह दृश्य अभी-अभी प्रत्यक्ष अपनी आँखों से देखा हो। अल्मोड़े की घाटी का वह सुन्दर दृश्य तो सदा के लिये उनकी आँखों में समा गया है। वहाँ क्षण-क्षण में बदलने वाला सौन्दर्य है। बादलों की धूपछाँह में कवि आँख मिचौनी खेलना चाहता है। पावस ऋतु का यह पर्वत प्रदेश और इसका क्षण-क्षण में बदलता हुआ वेष, मेखलाकार अपार पर्वतों की माला, नैनीताल की निर्मल शान्त एवं सुन्दर झील में उसकी प्रतिक्रिया को अपने में बाँध लेती है।

ऐसे मनोरम दृश्यों को देखकर कवि में एक विस्मय की भावना का उदय होता है। इन सभी प्रकृति-व्यापारों एवं उनके क्रिया कलापों के प्रति उसका मन विस्मय से भर जाता है। स्वच्छन्दता की उड़ान विस्मय लोक को ही अपनी मंजिल मानती है। एक रोमान्टिक कवि इसी लोक मे पहुँच जाने की कामना करता है। पक्षियों की सुमधुर काकली और चहचहाहट पर उसे आश्चर्य होता है कि इतना सुमधुर गाना इन सबने किससे और कैसे सीखा है। कवि इस गान विद्या को सीखने के लिए आतुर हो जाता है।

सिखा दो ना हे मधुप कुमार
मुझे भी अपने मीठे गान

× × ×

प्रथम रश्मि का आना रंगिणी कैसे तुमने यह जाना।
कहाँ कहाँ रे बाल विहंगिणी पाया तुमने यह गाना॥

कवि को प्रकृति के विभिन्न उपकरणों से बुलावा आता है। काले मेघ में रह रहकर चमक उठने वाली दामिनि उसे अपनी ओर संकेत से बुलाती है। अंग्रेजी की रोमान्टिक कविताओं में इस बुलावे को लेकर अनेक रचनायें मिलती हैं। एक अंग्रेज कवि अपनी पत्नी से कहता है कि अब वह नहीं रुक सकता। दूर की पहाड़ियाँ उसे बुलाती हैं, चाँद-सितारे उसे बुलाते हैं। लम्बी निर्जन सड़क उसे आमंत्रित करती है। दिशाएँ उसे पुकारती हैं। वह नहीं रुक सकता। वह अपनी पत्नी से कहता है कि यदि लोग पूछें तो दोष इन चाँद सितारों को देना, इन फैली हुई दिशाओं को देना, इस लम्बी सड़क को देना। इस प्रकार की कविताओं का प्रभाव 'पन्त' जी पर अधिक है पर वे एक दम चले जाने को तैयार नहीं है। उन्हें कुछ सामाजिक कर्त्तव्यों का भी ध्यान है।

'पन्त' जी रोमांटिक कवि होते हुए भी प्रकृति के कल्याणकारी रूप को नहीं भूलते हैं। मानव-जीवन के निर्माण में प्रकृति का बहुत कुछ योग है। प्रकृति और मानव में परस्पर आदान-प्रदान होता रहता है। कभी कवि मधुप कुमार से उसका मीठा गान सुनना चाहता है और कभी पुष्प-सुन्दर-बाला से मन्द मुस्कराना सीखता है। 'पन्त' जी प्रकृति को सजीवन मानते हैं। उसके भिन्न-भिन्न रूपों में अपने मन की भिन्न-भिन्न स्थितियों को मिलाने का प्रयास करते हैं। अपने दुख में प्रकृति दुखी और अपने सुख में प्रकृति सुखी दिखाई देती है। ऐसी परम्परा हिन्दी के आधुनिक युगीन काव्य में बहुत पाई जाती है।

चिनगियों सा तारों का जाल, आग सा अंगार शशि लाल।
लटकता है फैला मणि बाल जगत को डसता है तम जाल॥

पर प्रकृति और मानव का लेन-देन ही कवि को अधिक रुचिकर लगता है। वह सदैव इन दोनों में एक घनिष्ठता का भाव देखना चाहता है।

प्रकृति का मानवीकरण भी 'पन्त' जी में बहुत हुआ है। वास्तव में मानव ही रोमांस की जड़ है। जहाँ कर्त्ता का अभाव होगा वहाँ आवरण आदि निष्फल हैं। मनुष्य-मनुष्य से इतना हिल-मिल गया है कि मनुष्य का त्याग उसके लिये असंभव हो गया है। 'पन्त' जी यद्यपि प्रकृति पर प्राण देते हैं पर मनुष्य को उससे भी ऊँचा दर्जा देते हैं। मानव की स्तुति वे इस प्रकार करते हैं—

तुम मेरे मन के मानव, मेरे गानों के गाने।
मेरे मानस के स्पन्दन प्राणों के चिर पहिचाने॥

और अन्त में यह कह देते हैं कि—

सुन्दर है विहग सुमन सुन्दर।
मानव तुम सबसे सुन्दरतम॥

मानव ने कवि को अपनी ओर इतना अधिक खींचा कि कवि पूर्णतया मानव का कवि हो गया। ऐसी स्थिति में प्रकृति चित्रण में मानवीकरण बहुत कुछ स्वाभाविक है। बालुका राशि पर पड़ी हुई स्वच्छ गङ्गा की धारा उन्हें एक पर्यंक पर पड़ी हुई नारी के समान ज्ञात होती है, जो शान्त-कान्त-निश्चल लेटी हुई है। शरद की चाँदनी का रूप देखिये—

नीले नभ के शतदल पर
वह बैठी शारद-हासिनि।
मृदु करतल पर शशि-मुखधर
नीरव अनिमिष एकाकिनि!

वास्तव में नारी समस्त रोमांस की जड़ है। रोमांस जितने प्रकार के, जिस स्थिति में हो सकते हैं उन सभी में नारी का कोई न कोई मनोहारी रूप अवश्य विद्यमान रहता है। यह रही पुरुषों के रोमांस की बात। कवि पुरुष है अतः यत्र-तत्र नारी का अनेकानेक सुन्दर रूप दृष्टिगोचर होता है। युवक एवं रोमांटिक कवि के लिये नारी काव्य की मूल प्रेरक वस्तु है। उसके बिना कवि की समस्त कल्पना, सारी उड़ान, सारा नशा काफूर है। रोमांस ही क्या काव्य के सभी रूपों में आदिकाल से ही नारी-सौन्दर्य अपना प्रथम स्थान रखता आता है। 'पन्त' जी नारी को एक बहुत सुकुमार एवं कोमल भावना की दृष्टि से देखते हैं। नारी के अबोध बालापन रूप से कवि अत्यधिक प्रभावित है।

इस अभिमानी अंचल में फिर चित्रित कर दो विधि अकलंक।
मेरा छीना बालापन फिर करुण लगा दो मेरे अंक॥
उसी सरलता की स्याही से सदय इन्हें अंकित कर दो।
मेरे यौवन के प्यारों में फिर वह बालापन भर दो॥

बालिका सदैव अपना वही पुराना बालापन चाहती है। उसे डर है कि बड़े होने पर वह प्यार कदाचित वह खो बैठे। वह कहती है कि—

मैं सबसे छोटी हो जाऊँ।

पर कौन ऐसा कवि है जो नारी-कुसुम को पूर्ण विकसित रूप न देखना चाहे, कवि अपनी भावी पत्नी की कल्पना करता है। देखिये कैसा सुकुमार और मादक रूप उसकी कल्पना में है—

अरुण अधरों का पल्लव प्रात।
मोतियों का हिलता हिम-हास॥
इन्द्र धनुषी पट से ढँक गात।
बस विद्युत का पावस लास॥
हृदय में खिल उठता तत्काल।
अधखिले अङ्गों का मधुमास॥
तुम्हारी छबि का कर अनुमान।
प्रिये प्राणों की प्राण॥

रोमांटिक कवि के लिये नारी का सबसे कोमल और सुन्दर रूप ही रुचिकर होता है। वह नारी को साथ लेकर घरबार की नहीं सोचता। नारी जीवन की कठोर सत्यता में साथ रह कर इस सुख और दुख भरे संसार में अपना वह

सुन्दरतम रूप नहीं दिखा सकती और न कवि की आत्मा को सन्तोष ही दे सकती है। वह प्रतिदिन के गृहकाज से ऊब जाता है और कहता है—

आज रहने दो यह गृहकाज।
प्राण! रहने दो यह गृहकाज॥

उसका मन इस मादक बेला में पंख फैला कर जोड़े पक्षी की भाँति उड़ना चाहता है।

प्रकृति के कोमल हाथों से सँवारी हुई उसकी प्रेयसी सौन्दर्य विषयक मान्यताओं की सीमा तोड़ देती हुई जान पड़ती है। 'ग्रन्थि' की ग्रामीण बाला का सौन्दर्य और उसका भावुक हृदय कवि के लिये कवि को आजीवन प्रेरणा प्रदान करता रहेगा।

शीश रख मेरा सुकोमल जाँघ पर।
शशि कला सी एक बाला व्यग्र सी॥
देखती थी म्लान मुख मेरा अचल।
सदय भीरु अधीर चिन्तित दृष्टि से॥

ऐसी बाला से नजरें चार होने का दृश्य देखिये—

एक पल मेरी प्रिया के दृग पलक, थे उठे ऊपर, सहज नीचे गिरे।
चपलता ने इस विकम्पित पुलक से दृढ़ किया मानों प्रणय संबंध थे॥

'ग्रन्थि' में नारी का जो सुन्दर रूप चित्रित है वह केवल कल्पना ग्राह्य ही है। नारी को पवित्रता का रूप कवि मानता है—

तुम्हारे छूने में था प्राण! सङ्ग में पावन गंगा-स्नान।
तुम्हारी वाणी में कल्याणि! त्रिवेणी के लहरों का गान॥

कवि की नारी विषयक कोमल भावना एक छाया सी उसके समस्त काव्य पर मँडराया करती है। रोमांटिक और अनब्याही उमर में एक भावुक किशोर की कल्पना का एक रसमय रूप पन्त जी की प्रारम्भिक कविताओं से सर्वत्र विद्यमान है। गृहस्थी की कठोर परिस्थितियों का उसे अनुभव नहीं है अतः वह नारी के विभिन्न रूपों की कल्पना नहीं कर सकता। उसने नारी का बस एक मुग्ध विलासमय रूप ही देखा है, जिसे उसने सारी कोमलता और पवित्रता का आदर्श मान रखा है। उसे नारी का कठोर एवं निष्करुण रूप देखने का मौका नहीं मिलता है। कीट्स यद्यपि सौन्दर्य और रोमांस का महान कवि माना जाता है फिर भी उसने नारी की उस छिपी हुई निर्दयता का अनुभव किया है। 'पन्त' जी इस अनुभव से एकदम दूर हैं। नारी की प्रशंसा करना ही उनका लक्ष्य है।

तुम्हारे गुण हैं मेरे गान, मृदुल दुर्बलता ध्यान।
तुम्हारी पावनता अभिमान शक्ति पूजन सम्मान॥

पुरुष के ऊपर नारी की प्रभुता इन्हें सदैव प्यारी लगती है।

नारी के विरहिणी रूप का जो चित्रण कवि ने किया है वह बहुत ही प्रभावशाली है। कुछ लोग रोमांस को मस्तिष्क की असंतुलित स्थिति की उपज मानते हैं। जो हो, पर इस स्थिति का काव्य अपना एक अलग महत्व रखता है। इसमें एक अजीब भाव प्रवणता होती है। हृदय को हिला देने की एक अद्भुत क्षमता होती है। ऐसी स्थिति में कवि को बहुत दूर दूर की बातें सूझती हैं। कवि की दयार्द्र स्थिति देखते ही बनती है।

कहो कौन हो दमयन्ती सी तुम तरु के नीचे सोई।
हाय? तुम्हें भी त्याग गया क्या अलि नल सा निष्ठुर कोई॥

पीले पत्तों की शय्या पर पड़ी हुई विजन की नायिका को देखकर कवि एकदम दयार्द्र, हो उठता है।

यहाँ तक तो हो गई प्रकृति और नारी की बात। रोमान्टिक काव्य की तीसरी विशेषता कल्पना की विशेषता है। कल्पना के बिना रोमांस का मजा एकदम फीका है। जिस प्रकार कल्पना का रूप वायवी है उसी प्रकार कुछ रोमांस का भी। अतः इन दोनों में बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। कल्पना की ऊँची उड़ान रोमांस के देने हैं। रोमान्टिक भावों की उपज बहुत कुछ कल्पना का सहारा लेकर चलती हैं। एक स्वच्छन्द कवि जब संसार की कठोरता से ऊब जाता है तो प्रत्यक्ष को छोड़कर अप्रत्यक्ष की ओर जाने का प्रयास करता है। यहाँ कल्पना उसका साथ देती है। कल्पना उसे उड़ाकर एक ऐसे लोक में पहुँचा देती है जहाँ न दुख है और न दर्द, जहाँ सदैव मीठी-मीठी हवा चलती रहती है, तारों से घिरा स्वच्छ आसमान है, सर्वत्र एक पवित्रता है, सर्वत्र एक कोमलता है। कवि के लिये कल्पना वहीं अधिक लाभकारी होती है जहाँ वह कल्पित वस्तु को एकदम सजीव पाठक के नेत्रों के आगे ले आकर उतार देता है। जब कवि की कल्पना और पाठक की कल्पना एक हो जाती है तभी काव्य सफल कहा जाता है। 'पंत' जी की प्रतिभा बहुत सूक्ष्मग्राहिणी है। हर चीज को वे बड़ी अच्छी तरह परखते हैं। उनका वस्तु विश्लेषण बहुत ही वैज्ञानिक है। ऐसी प्रतिभा जब काव्य में आती है तो काव्य मूर्तिमान हो उठता है। इसी प्रतिभा को चित्रात्मक प्रतिभा कहते हैं। कीट्स इस कला में बहुत निपुण था। जब 'पंत' जी कल्पना की अधिक ऊँची उड़ान पर पहुँच जाते हैं तो उनका अनुभूति-पक्ष कम होने लगता है। 'स्याही की बूँद' और 'नक्षत्र' आदि कवितायें

इसके उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत की जा सकती हैं। कवि सन्ध्या का कैसा चित्र उपस्थित करता है—

ग्रीव तिर्य्यक, चम्पक द्युति मान,
नयन मुकुलित, नतमुख जलजात,
देह छबि छाया में दिन रात,
कहाँ रहती तुम कौन ?

कवि की सूक्ष्म कल्पना ही काव्य के समस्त अलंकारों की जननी है। इसी कल्पना का दूसरा नाम सूझ है। कवि प्रस्तुत को देखकर कल्पना के नेत्रों से अप्रस्तुत का विधान करता है। कल्पना के द्वारा अमूर्त को मूर्त रूप दे देना कवि के बायें हाथ का खेल है। छाया के लिये पन्त जी लिखते हैं—

तरुवर के छायानुवाद सी।
अविदित भावाकुल भाषा सी॥
कटी छँटी नव कविता-सी।

चाँदनी का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

नीले नभ के शतदल पर।
वह बैठी शारद हासिनि॥
मृदु करतल पर शशि मुख धर।
नीरव अनिमिष एकाकिनी॥

इसी प्रकार 'नौकाविहार' में गंगा को एक तापस बाला के रूप में चित्रित किया है। अब सन्ध्या को एक सुन्दरी के रूप में कवि देखता है। समस्त मानवीकरण इसी कल्पना की उपज है। जहाँ पन्त जी कल्पना के पीछे हाथ धोकर पड़ जाते हैं वहाँ हृदय हीनता का आभास मिलने लगता है। जहाँ कल्पना और अनुभूति बराबर मात्रा में मिली होती है वहाँ काव्य निखर उठता है—

मिला लालिमा में सन्ध्या का
दिया एक निर्मल संसार
नयनों में निस्सीम व्योम औ,
उरो रुहों में सुरसरि धार।

प्रत्येक स्वच्छन्द कवि में ऐन्द्रियता कुछ न कुछ मात्रा में अवश्य विद्यमान रहती है। रोमान्स का सम्बन्ध ऐन्द्रियता से अधिक है। अंगरेजी के रोमान्टिक कवि कीट्स में भी यही विशेषता पाई जाती है। पन्त जी के काव्य में इसका अभाव नहीं है। पर पन्त जी के काव्य में कहीं बीभत्स रूप नहीं

मिलता। सर्वत्र एक शालीनता दृष्टिगोचर होती है। आवेग उठता है पर उसमें एक संयम है। जहाँ तक कवि की विभिन्न इन्द्रियों का प्रश्न है उनमें एक अपूर्व ग्राहिणी शक्ति है। इन्द्रियाँ इतनी तेज हैं कि सूक्ष्म से सूक्ष्म अनुभव उन्हें प्राप्त हो जाता है। रंगों का ज्ञान 'पन्त' जी की अपनी विशेषता है। 'पंत' जी की एक यही विशेषता चित्रकार की तूलिका तक को पकड़ सकती है। जो रूप, जो दृश्य एक चित्रकार अपनी तूलिका से उपस्थित कर सकता है उसे पन्त जी शब्दों के माध्यम से ही पाठकों के सम्मुख ले आकर खड़ा कर देते हैं। आम्र मञ्जरी के रङ्ग की सूक्ष्म व्याख्या देखिये—

रुपहले सुनहले आम्र बौर
नीले पीले और ताम्र भौंर।

रङ्गों का एक और उदाहरण देखिये—

विद्रुम औ मरकत की छाया
सोने चाँदी का सूर्यातप
हिम परिमल की रेशमी वायु
शत रंग छाया, सँग चित्रित नभ

रङ्गों के विश्लेषण में पन्त जी को कमाल हासिल है। एक ही रङ्ग में वे कई प्रकार के रङ्ग बना सकते हैं। काला, श्याम और श्यामल उनके लिये तीन रङ्ग हैं।

इसी प्रकार ध्वनि-चित्रण में भी पन्त जी बड़ी ही कुशलता से काम लेते हैं। ठोंक-ठोंक कर ऐसे शब्दों को ले आते हैं जो उपयुक्त मनोभावों को सरलता पूर्वक स्पष्ट कर सकें। स्वर और व्यंजनों की योजना में भी ऐसी शक्ति होती है जिससे काव्य में अनुभव कराने की शक्ति बढ़ जाती है। 'परिवर्तन' नाम की कविता में जब समय की तुलना शेषनाग से करते हैं तो योजना से उत्पन्न ध्वनि एकदम सर्प की ध्वनि से मिलती हुई ज्ञात होती है। जब पन्त जी 'गरज गगन के गान गरज गम्भीर स्वरों में' कहते हैं तो वास्तव में बादलों की गरज सी आवाज प्रतिध्वनित होती जान पड़ती है। भादों की सूनी अंधेरी रात में जब झींगुर एक स्वर में लगातार बोलने लगते हैं तो वह रात्रि की नीरवता को अधिक बढ़ा देता है। वह ध्वनि वातावरण को आन्दोलित नहीं करती वरन् उसकी नीरवता बढ़ाने में ही योग देती है। इसका पता ठीक-ठीक पन्त जी को है।

स्वच्छन्द कवियों में वैयक्तिकता की भावना बहुत अधिक रहती है। यहाँ कवि अपनी भावनाओं को व्यक्त करना चाहता है। वह अपने दुख सुख के

प्रकटीकरण में लीन रहता है। आत्मनिवेदन की इच्छा इस प्रकार से काव्य में बलवती रहती है। अपनी रूमानी दुनियाँ को वह पाठक के सम्मुख ले आना चाहता है, यहाँ उसी के आवेश हैं। यहाँ उसी की भावनायें हैं, यहाँ उसी की आत्मा की पुकार है और उसी का अपना अनुभव है। पन्त जी ने सबसे पहले इस ओर ध्यान दिया। पहले यह लड़कपन समझा जाता था, धीरे-धीरे लोगों को इसकी प्रभविष्णुता का पता चला और आज के काव्य में तो सर्वत्र वैयक्तिकता ही वैयक्तिकता दिखाई पड़ रही है। पन्त जी का समस्त काव्य वैयक्तिक भावनाओं से भरा है। 'ग्रन्थि' तो उनकी अपनी एक कहानी ही है। यद्यपि कवि ने एकदम खुलकर आधुनिक कवियों की भाँति वैयक्तिकता पर जोर नहीं दिया है पर इसका श्रीगणेश उसी के हाथों से हुआ है। काव्य में सर्वत्र उसके आत्मा की पुकार गुंजती सुनाई पड़ती है। निराश प्रेमी का रूप देखिये—

शैवालिन ! आओ मिलो तुम सिन्धु से
अनिल ! आलिंगन करो तुम गगन का
चन्द्रिके ! चूमो तरंगों के अधर
× × ×
पर हृदय सब भांति तू कंगाल है
चल किसी निर्जन विपिन में बैठ रह।

रोमान्टिक कविताओं में गीत का अपना महत्व है। सुमधुर ध्वनि एक रोमान्टिक मनोभाव को बहुत आसानी से उद्वेलित कर सकती है। रोमान्स और गीत में बहुत सम्बन्ध है। गीत रोमांस की भावना को उद्दीप्त करने का सुन्दर साधन है। अतः स्वच्छन्द कवियों को गीत बहुत प्यारे लगते हैं। दुनियाँ के सभी रोमान्टिक कवि गीत लिखना अधिक पसन्द करते हैं। पन्त जी का समस्त काव्य एक गीतमयता लिये हुये है। हिन्दी साहित्य में गीत शैली पुरानी शैली है। सभी भक्त कवियों ने इसे अपनाया था। पर आधुनिक गीत उस शैली पर न चल कर पाश्चात्य विदेशी शैली पर चलते हैं। विदेशी शैली के जितने गुण हैं सभी पन्त जी की कविता में विद्यमान हैं। भावात्मकता, हार्दिकता, स्फुरणशीलता और प्रवाहमयता आदि इस शैली के लक्षण हैं। इसमें एक तीव्र मनोवेग होता है जो समस्त काव्य पर छाया रहता है। प्रायः एक मनोभाव होने के कारण इसका आकार छोटा होता है। 'वीणा' के तुतले गीत बहुत प्यारे हैं। 'पल्लव' की कविताओं में एक आवेग है, एक प्रभाव उत्पन्न करने की शक्ति है। ज्यों-ज्यों पंत जी आगे

बढ़ते जाते हैं उनकी कविताओं से गीति-तत्व निकलता जाता है। पर पहले की कविताओं में इसका प्राधान्य है। उदाहरण देखिये—

अहो विश्व सृज! पुनः गुँजा दो
वह मेरा बिखरा संगीत
माँ की गोदी की थपकी से
पला हुआ वह स्वप्न पुनीत।

× × ×

वह लेटा है तरु छाया में
सन्ध्या विहार को आया मैं।

यहाँ तक रही पन्त जी की रोमान्टिक काव्य साधना। जीवन की लम्बी दौरान में आदि से अन्त तक रोमान्स को ही स्थान नहीं है। रोमांस की एक निश्चित अवधि होती है और जहाँ पहुँच कर कल्पना लोक का पक्षी कठोर धरातल पर उतरने के लिए बाध्य होता है। यहाँ उसके जीवन का गम्भीर पहलू धीरे-धीरे उसकी समझ में आने लगता है। शेली और कीट्स जीवन की उस अवस्था तक नहीं पहुँच पाये थे अतः गम्भीर और कठोर जीवन की समस्याओं का प्रश्न उनके सम्बन्ध में उठता ही नहीं। अधेड़ उम्र प्रेम का राग अलापने की उम्र नहीं है। यहाँ एक परिवर्तन की आवश्यकता है। सबके जीवन में वह परिवर्तन उत्पन्न होता है और धीरे-धीरे वह मनुष्य को स्थायित्व की ओर ले जाता है। पन्त जी के जीवन में भी यही बात सत्य है। विपत्तियों और ऐहिक कष्टों की ठोकर खाकर उन्हें जीवन की नश्वरता और क्षणभंगुरता का बोध हुआ। इस समय की 'परिवर्तन' नाम की उनकी कविता बहुत मार्मिक और महत्वपूर्ण है। यहाँ उसने कल्पना के विशाल महलों को ढहते हुये देखा, गुलाब के गालों को मुरझाते हुए देखा और देखा सर्वत्र एक विनाश की छाया। उसका कोमल काल्पनिक हृदय इसे देखकर रो पड़ा। उसके हृदय में मानव-मात्र के प्रति एक सहानुभूति की भावना उत्पन्न हो गई। उसने कल्पना का लोक छोड़ दिया, वह मानव का कवि बनने लगा। उसने जीवन का एक दर्शन देखा और उसे पहिचाना। अब वह दार्शनिक सत्यों की ओर झुकने लगा। अपने इस दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने 'ज्योत्स्ना' नाटिका लिखी, इसमें उन्होंने आधुनिक जीवन की समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न किया है। ज्योत्स्ना जीवन की एक 'ज्योत्स्ना' है। पर यहाँ भी कवि अपनी रोमान्टिक भावनाओं का त्याग नहीं कर सका है।

वातावरण और पात्र सभी रोमान्टिक हैं। पर वह भावना एक आदर्श की ओर उन्मुख है।

'युगान्त' तक पहुँचते-पहुँचते कवि का सौन्दर्ययुग समाप्त प्राय हो जाता है। यहाँ चिन्तन प्रधान हो उठता है। वह जीवन और जगत के लिये प्रार्थना करता है और एक मंगल-मय भविष्य की कामना करता है। संसार प्रगतिशील है। वह निरन्तर आगे बढ़ता जा रहा है। पुराने दर्शन लुप्त होते हैं और नया उनका स्थान लेते हैं। अब कवि युग के सम्पर्क में आने लगा जहाँ समाज की तत्कालीन स्थिति ने उसे उनके विषय में सोचने को बाध्य किया। 'युग-वाणी' में वह एकदम प्रगतिवादी हो उठता है। यह है भारतीय साम्यवाद का रूप। उसने अनुभव किया कि अब गीत का युग समाप्त हो गया। यह गद्य का कठोर और प्रत्यक्ष युग है। 'युगवाणी' जीवन की समझ है और 'ग्राम्या' उसका एकदम व्यावहारिक रूप। ग्राम्या में मानों कोई सिद्धान्त निकलने के लिये सामग्री एकट्ठी की गई हो। यहाँ उसने जन-जीवन की परख की है।

इसके पश्चात् पन्त जी के विचारों में फिर एक परिवर्तन हुआ। यह था दार्शनिक परिवर्तन। कवि अब एकदम गम्भीर दर्शन की ओर झुक गया। 'स्वर्णकिरण' आदि आधुनिक रचनायें इस प्रकार की रचनाएं हैं। इस प्रकार से हम देखते हैं कि सौन्दर्य विषयक काव्य छोड़ने के पश्चात् पंत जी किसी भी विषय पर रुक नहीं सके। सुन्दर कल्पना का लोक उन्होंने छोड़ दिया पर उसके अभाव में अब उसका बूढ़ा कवि-हृदय कहीं भी शान्ति पा नहीं सका। यह है एक सच्चे रोमान्टिक कलाकार की पहिचान। उन्होंने बहुत से ढाचें अपनाने का प्रयत्न किया पर उनके मस्तिष्क की बनावट उनके अनुकूल है कि नहीं यह सन्देहास्पद है।

वास्तव में पंत जी सौन्दर्य द्रष्टा हैं। इन परिवर्तनों में यद्यपि उनकी कविता का बाह्याकार बहुत बदल गया है, पर उसकी आत्मा सदैव ऊब कर उसी पुरानी राह पर जाने के लिये छटपटाया करती है। यह है उनके स्वभाव और सिद्धान्त का विरोध। वे अपना स्वभाव गढ़ने के फेर में लगे हैं, पर वह कभी नहीं बदलेगा ऐसा हमारा विश्वास है।

प्रकृति के क्रोड़ में पलने वाले कवि पन्त में प्रगतिशीलता की भावना लेकर एक महान परिवर्तन हुआ। इस परिवर्तन का संकेत पाठक को 'युगान्त' में मिल जाता है, परन्तु ग्राम्या में वे विशेष प्रगति शील दिखाई पड़े। कल्पना का लोभ पन्त जी कहीं भी संवरण नहीं कर सके हैं। धरती से दूर होने के कारण

'ग्राम्या' की आधार भूमि ठोस और दृढ़ नहीं है। उसे मिट्टी की गन्ध प्रिय नहीं है। उनकी पूर्व काव्य प्रवृत्तियों में साम्यवादी भावना की क्रियात्मक शक्ति भी दृष्टि गोचर होती रही है। उनमें रूसी समाजवाद की अपेक्षा भारतीय प्रवृत्तियाँ अधिक परिलक्षित होती हैं। 'गुंजन' की कुछ कवितायें इसी आशय की पुष्टि करती हैं। पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन का भी भाव इनकी रचनाओं पर पड़ा है, पर इतना अवश्य है कि यह प्रभाव प्रच्छन्नरूप में ही रहा और यह सत्य है कि उसका उन्होंने अनुकरण नहीं किया है। अध्ययन और अनुभव को अपने में पचा कर उसे मौलिक रूप प्रदान करना 'पंत' जी के काव्य की अपनी विशेषता है। जीवन और सत्य के प्रति उनमें उपेक्षा कहीं नहीं मिलती। ग्रामीणों, कामगरों या कृषक मजदूरों की स्थिति का दिग्दर्शन कराने के निमित्त साम्यवाद-समाजवाद से प्रभावित समीक्षकों ने उन्हें प्रगतिवाद के पोषकों में घोषित किया है। यथार्थ में पंतजी समाजवादी प्रगतिशील कवि होने से पहले स्वच्छन्दतावादी तथा रहस्यवादी कवि हैं। उनके काव्य में नये छन्दों की नई भावनाओं की जहाँ सृष्टि हुई है, वहाँ वे सच्चे अर्थों में प्रगतिशील कवि हैं। काव्यात्मक सौन्दर्य तथा कलात्मक अभिव्यक्ति की दृष्टि से भी 'पंत' जी अपने युग के सच्चे प्रगतिशील कवि कहे जा सकते हैं। प्रगतिशीलता के अन्दर आने वाली सारी संक्षिप्त जीवन शक्तियाँ उनकी इस प्रगतिशीलता में नहीं मिलेगी। उत्तेजक प्रवृत्तियाँ, पूँजीवाद के खिलाफ विद्रोह की हुंकृति, व्यक्ति के प्रति अविश्वास की भावना और अधिकारयाचना के निमित्त क्रान्ति का आह्वान भी इस प्रगतिशीलता में नहीं मिलेगा। परिवर्तन या विकास के अर्थ में 'पंतजी' सच्चे प्रतिनिधि प्रगतिशील कवि कहे जा सकते हैं। ग्रामीण वातावरण का उन्होंने निरीक्षण मात्र ही किया है और वह भी अत्यन्त निकट से नहीं कुछ दूर से ही। इस निरीक्षण में जहाँ तक के विस्तार को कवि ने देखा है उसके मर्म तक पहुँचा है। परिस्थिति के आग्रह से मानव किस प्रकार ह्रास को प्राप्त होता है देखिये—

ग्राम आज है पृष्ट जनों की करुण कथा का जीवित
युग युग का इतिहास सभ्यताओं का इसमें संचित।
घर घर के बिखरे पन्नों में नग्न क्षुधार्त कहानी
जनमन के दयनीय भाव कर सकती प्रकट न वानी।
मानव दुर्गति की गाथा से ओत प्रोत मर्मान्तक,
सदियों के अत्याचारों की सूची यह रोमांचक

ग्राम्या पृ० १४

सच्ची मनुष्यता तो गाँव में ही निवास करती है वहाँ दानवता कहाँ। मनुष्यता का मूल तत्व ग्रामीण केन्द्र में ही अन्तर्निहित है। परन्तु जब कवि कहता है कि--देख रहा हूँ अखिल विश्व को मैं ग्रामीण नयन से— वहाँ वह सत्य से दूर चला जाता है क्योंकि कोरी बुद्धिवादिता से ग्राम्य वातावरण का यथार्थ चित्र नहीं खीचा जा सकता। अधिक स्वच्छता और सत्यता लाने के लिये भौतिकवाद के आधार से बौद्धिक-आधार ग्रहण करने में अस्वाभाविकता आ जाती है क्योंकि ऐसी दशा में कोई भी कवि यथार्थ की भूमि से च्युत हो सकता है। यथार्थ के डग भर कर ही गाँवों तक पहुँचा जा सकता है। बौद्धिक आँखों से गाँव और उसके निवासियों को नहीं देखा जा सकता। बौद्धिक प्रयास से खींचा गया चित्र मध्य वर्गीय जीवन को ही दिखला सकता है, पर कवि की दृष्टि में जो उपेक्षित हैं उन्हें उपेक्षित कहना ही ठीक है क्योंकि उनका उपेक्षित और दलित होकर रहना भी परम्परा की एक कड़ी है।

यहाँ खर्व नर, (वानर) रहते युग युग से अभिशापित।
अन्न वस्त्र पीड़ित असभ्य, निर्बुद्धि पंक में पालित।
यह तो मानव लोक नहीं है, यह है नरक अपरिचित।
यह भारत का ग्राम सभ्यता संस्कृति से निर्वासित।

ग्राम्या पृ० १६

'ग्राम्या का आधार बौद्धिक अधिक हो गया है तो भी वह अपने अर्थ में वैशिष्ट्य रखती है। इससे कवि ग्रामचित्रण के अतिवाद तक पहुँच गया है। वह ग्रामीण नयन से ही सम्पूर्ण विश्व को देखता है। साम्यवादी भावनाओं का तो कवि वकील ही है इसलिये वह सबकी सामूहिक मंगल कामना करता है। कवि किसान की ध्वंसात्मक शक्तियों और प्रक्रियाओं से भी खिन्न है यद्यपि उसकी निर्माण प्रक्रिया कवि की दृष्टि में वांछनीय है—

ललकार रहा जग को भौतिक विज्ञान आज,
मानव को निर्मित करना होगा नव समाज,
विद्युत औ बाष्प करेंगे जन निर्माण काज,
सामूहिक हो मंगल हो समान समदृष्टि राम।

ग्राम्या

सम्पूर्ण ग्राम्या में कवि का आशावाद मुखरित है। आशावाद के साथ ही साथ कवि ने शिव पक्ष को भी प्रधानता दी है। आशावाद में तो कवि बहुत आगे निकल जाता है—

सुनता हूँ इस निस्तल जल में रहती मछली मोती वाली,
मुझे डूबने का भय है भाती तट की चल जल माली,
आयेगी पुलिनो पर मेरे वह मोती की मछली सुन्दर।
मैं लहरों के तट पर बैठा देखूँगा उसकी छवि जी भर।

इस कृति में कवि प्रगतिवाद का झंडा अधिक से अधिक ऊँचा उठा सका है। "वास्तव में युगवाणी पन्त का सिद्धान्त वाक्य था और ग्राम्या उसका प्रयोग।"[1]

---

१. सुमित्रा नन्दन पन्त, पृ० २२४, प्रो० नगेन्द्र।

निराला

'निराला' जी वास्तव में हिन्दी के क्रान्तिकारी कवि हैं। उनकी कविताओं मे उनकी परिस्थिति और जीवन अपने आप उतर कर चला आया है क्योंकि समाज में उसका कोई था नहीं जिसके लिये वह अपनी अनुभूतियों तथा भावों को छिपाकर रखता। जिसने जीवन भर समाज से विद्रोह ही पाया हो वह विद्रोही नहीं होगा तो और क्या होगा। जीवन के आरम्भ से ही उन्हें जूझना पड़ रहा है, उन्होंने युग के विष को नीलकण्ठ की भाँति पी लिया है और अपना सर्वस्व युग की रक्षा के लिये लगा दिया है। आदि से अन्त तक उनकी कविताओं में प्राचीन रूढियों के प्रति विद्रोह बना हुआ है। चाहे वे सामाजिक रूढ़ियाँ हों अथवा साहित्यिक, इनका विद्रोह व्यक्तित्व इनकी रचनाओं में सर्वत्र अत्यन्त पुरुष रूप में अभिव्यक्त हुआ है। ये हिन्दी के पुरुष कवि है। व्यक्तित्व की जैसी निर्बाध अभिव्यक्ति इनकी कविताओं में हुई है वैसी अन्य किसी आधुनिक कवि में नहीं।

कुछ विद्वानों का कहना है कि निराला जी के विकास के मूल में भावना की अपेक्षा बुद्धि तत्व की अधिक प्रमुखता है और उनके गम्भीर दार्शनिक अध्ययन के कारण ही उनकी कविताओं में बौद्धिक उत्कर्ष अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच गया है। किन्तु नितान्त ऐसी बात नहीं जान पड़ती क्योंकि इनके भावावेगों के कारण ही इनकी कविता के शास्त्रीय किनारे टूटते से जान पड़ते हैं। निराला जी अपने भावावेगों पर अंकुश नहीं रख पाये हैं जिससे उनके भावों की अविरल धारा बड़े वेग से बहती है और इसी बहाव के कारण उनकी कविताओं में कहीं-कहीं ऐसे प्रसंग छूट जाते हैं जिनके बिना ही वह दुर्बोध हो जाती है और साधारण पाठक की समझ से दूर की वस्तु बन जाती है। इनके प्रगीतों में किसी न किसी प्रकार की कथा का आश्रय पाया जाता है। निराला जी का यह कथा-प्रेम केवल प्राचीन मान्यताओं को नया रूप देने की अभिलाषा ही है। इन्होंने 'तुलसीदास' नामक कविता के द्वारा यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि नारी का सौन्दर्य केवल स्थूल, उसकी शारीरिक मांसलता में ही नहीं है जो पुरुषों की वासना की तृप्ति के लिये बनी है बल्कि उसके अन्दर वह शक्ति भी है जो पुरुष की वासना को धक्का देकर उसमें किसी अतीन्द्रिय

सौन्दर्य के अनुभव की अनुभूति भी उत्पन्न कर सकती है, वह यह दिखला सकती है कि नारी बेजबान प्रतिमा नहीं है बल्कि एक दिव्य रमणीय मूर्ति भी है और वह यह दिखा सकती है कि वह इतनी सीमित और संकुचित नहीं है जितना कि पुरुष उसे समझता आया है। तुलसी ने 'रत्नावली' का जब यह स्वरूप देखा तो उनकी आँखे सहसा खुल गयीं और जिसे उन्होंने अब तक बन्धन समझ रखा था वह ही मुक्त होने का एकमात्र साधन जान पड़ने लगी।

'जिस कलिका में कवि रहा बन्द !
वह आज उसी में खुली मन्द ॥
भारती रूप में सुरभि छंद निष्प्रश्रय ॥

नारी को इस रूप में देखने का 'निराला' जी का आधुनिक युग को एक बहुत बड़ी देन है। नारी-सौन्दर्य को आँकने के लिए जितनी कसौटियाँ पूर्ववर्ती युग के कवियों ने और मुख्यतया रीतिकालीन कवियों ने बना रखे थे, इस कवि की उर्वर प्रतिभा ने उन्हें स्वीकार नहीं किया और उसने नारी की कुटिल भौहों को कमान, चितवन को बेधक तीर तथा मुस्कान को प्राणान्त करने वाले विष के रूप में नहीं देखा बल्कि उसने नारी का जो चित्र उरेहा है उसकी—

'सरल भौहों में था आकाश।
हास में शैशव का संप्रार ॥'

था, और उसकी कल्याणमयी आँखों में ही निवास कर प्रेम के सुन्दर स्वरूप का निर्माण होता है—

'तुम्हारी आँखों में कर-वास।
प्रेम ने पाया था आकार ॥'

इस प्रकार हम देखते हैं कि रीतिकाल के कवियों की वे छुरी से भी तेज आँखें संहारक न रहकर पालक हो गयीं।

'राम की शक्ति पूजा' को लेकर कवि लौकिकता की भूमि पर इसलिये उतर आया है कि वह सामाजिक आदर्शों को जन-साधारण के लिये अधिक सुलभ और विश्वस्त बना सके। निराला के 'राम' आदर्श मानव हैं जिससे उनके कार्य हमें अधिक आकर्षित करते हैं। प्रेम का जैसा सुन्दर प्रस्फुटन, सायंकाल युद्ध से लौटे हुये राम के हृदय में, निराला जी दिखा सके हैं वैसा वासना से ओत-प्रोत अश्लीलता से परे चित्रण जनक-वाटिका में आमने-सामने रख कर भी तुलसीदास जी नहीं कर पाये हैं। पावन प्रेम की जो प्रतिष्ठा स्वच्छन्दवादी कवियों द्वारा हो सकी है वह हिन्दी के पूर्ववर्ती काव्यों में नहीं दिखाई पड़ती है। जीवन में प्रेम एक बार प्रथम दर्शन में ही एक से होता है। राम

को परिणीता सीता का स्मरण नहीं आता बल्कि कुमारी सीता की सलोनी मूर्ति ही कल्पना की आँखों में आकर विह्वल कर देती है।

'याद आया उपवन।
विदेह का प्रथम स्नेह का लतान्तराल मिलन
नयनों का-नयनों से गोपन-प्रिय सम्भाषण—
पलकों का नवपलकों पर प्रथमोत्थान-पतन—
काँपते हुये किसलय, झरते पराग समुदय,
गाते खग नवजीवन-परिचय तरु मलय वलय—
ज्योतिः प्रताप स्वर्गीय-ज्ञात छवि प्रथम स्वीय।
जानकी-नयन-कमनीय प्रथम कम्पनतुरीय॥

सरोज-स्मृति' तो कवि के जीवन की करुण कहानी है। उन्होंने इस कविता के माध्यम से अपने जीवन की सच्ची घटनाये कह डाली हैं। किस प्रकार प्राचीन अन्ध-विश्वासों में पले हुए लोग नवीन जागरण का स्वागत नहीं कर पा रहे थे, स्वच्छन्द मुक्त-छन्द की कविताओं की किस प्रकार उपेक्षा की जाती थी, वे किस प्रकार सम्पादकों के द्वारा लौटा दी जाती थीं आदि सभी आप बीती घटनाओं को उन्होंने कह सुनाया है। समाज की प्राचीन परम्पराएँ उन्हें स्वयं अमान्य थीं क्योंकि उन्होंने स्वयं अपनी लड़की का ब्याह परम्परित रूढ़ियों की कुछ भी परवाह किये बिना ही अत्यन्त नवीन ढंग से किया था। अपनी बात को सचाई से कहने वाला इस युग में दूसरा नहीं हुआ। उन्होंने गँवार दामाद का जो यथार्थ चित्र उरेहा है वह सच्चा और स्वाभाविक ही नहीं बल्कि उनकी घृणा और उपेक्षा का भी द्योतक है।

'वे जो जमुना केसे कछार
तद फटे विवाई के, उघार
खाये के मुख ज्यों, पिये तेल
चमरौधे जूते से, सकेल
निकले, जो लेते, थोर-गन्ध
उन चरणों को मैं यथा अन्ध
कल घ्राण-प्राण से रहित व्यक्ति
हो पूजूँ ऐसी नहीं शक्ति

कथा की सूत्रता उनके उमड़ते हुये भावों पर अंकुश का कार्य नहीं कर पाई है। साहस और संयम का जितना सुन्दर समन्वय तथा रूढ़ियों को खुल-कर जितनी चुनौती देने की शक्ति निराला जी में है उतनी न तो 'प्रसाद'

में है और न तो 'पन्त' में। यह 'निराला' जी का ही साहस था कि उन्होंने अपनी नव परिणीता पुत्री के सौन्दर्य का अत्यन्त मुक्त भावना से वर्णन किया है। यद्यपि इस चित्रण से मांसलता के स्थान पर करुणा अधिक टपकती है फिर भी इससे कवि की निर्पेक्षता तो स्पष्ट हो ही जाती है। जीवन में जिन घटनाओं तथा वस्तुओं का जैसा प्रभाव इनके मस्तिष्क पर पड़ा है उसका उसी रूप में चित्रण करना कवि को अभीष्ट रहा है।

'निराला' जी के विकास की चार रेखाएँ हैं। इनके विकास की प्रथम रेखा अनामिका में मिलती है जो बुद्धिवाद से अत्यधिक प्रभावित है। उनकी कविताओं के बुद्धिवादी होने का एकमात्र कारण उनका गम्भीर दार्शनिक अध्ययन ही है जिससे बौद्धिक उत्कर्ष अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच गया है। उनपर वेदान्त की गहरी छाप तो है ही, बंगाल के रामकृष्ण मिशन और स्वामी विवेकानन्द के धार्मिक एवं दार्शनिक सिद्धान्तों का भी इनपर प्रभाव पड़ा है। उनकी ऐसी अनेक कविताएँ हैं जिनमें अद्वैतवादी बुद्धितत्व की प्रधानता है जो सूक्ष्म दार्शनिक आधार लेकर लिखी गयी हैं। निराला जी इस सम्पूर्ण जीवन जगत को मिथ्या मानते हैं, सत्य केवल उस आनन्द स्वरूप ब्रह्म को ही मानते हैं जो अदृश्य है किन्तु उसका विराट स्वरूप सृष्टि के कण-कण में रमा है जिसमें ही रमकर जीव आनन्द प्राप्त कर सकता है। इनका यह दार्शनिक अद्वैतवाद केवल बौद्धिक है क्योंकि हृदय से वे भक्ति और प्रेम में आस्था रखते है। वे शक्ति के उपासक हैं इसी लिये 'राम की शक्ति पूजा' में कहते हैं 'केवल हनुमत प्रबोध'। हनुमान की महिमा उनके यहाँ इसलिये नही है कि वे 'राम' के अनन्य भक्त हैं, बल्कि इसलिये कि वे अपार शक्ति रखते हैं। मस्तिष्क से निराकार अदृश्य एवं अनन्त ब्रह्म के उपासक होते हुये भी वे हृदय से साकार रूप के उपासक हैं। उनके मत्त हृदय की विह्वलता देखिये 'डोलती नाव प्रखर है धार। सँभालो जीवन खेवन हार'। इतना अवश्य है कि उनकी आन्तरिक प्रेरणाएँ भक्तोचित भावुकता से पूर्ण हैं इसीलिए उनका रहस्यवाद उलझी हुई पहेली नहीं है वरन् सुलझा हुआ रहस्य है। उनकी वृत्तियाँ स्पष्ट नहीं होने पायी हैं। एक वाक्य में कहा जा सकता है कि उनकी कविताओं में दर्शन और भक्ति का समन्वय है। उनकी प्रतिभा स्वाभाविकता तथा युगानुरूपता के बीच दौड़ लगा रही है।

इनके प्रथम विकास के अन्दर ही स्वच्छन्दता मुक्त छन्दों में यदि एक ओर 'जुही की कली' जैसी कोमल श्रृंगार पूर्ण रचना है तो दूसरी और 'जागो फिर एक बार' जैसी ओजपूर्ण रचना। इनकी जुही की कली, प्रकृति के मानवी-

करण की दृष्टि से हिन्दी की श्रेष्ठ रचना है। निराला ने प्रकृति को उद्दीपनरूप में नहीं देखा और न विशेषकर उन्होंने आलम्बन रूप में उसका सीधा-साधा वर्णन प्रस्तुत कर देना ही उचित समझा है बल्कि उन्होंने उसमें भी मानव सी चेतना देखी है। यही कारण है कि प्रायः उन्होंने प्रकृति में अपने भावों की छाया देखी है, उन्हें प्रकृति से भी वहीं संकेत मिलता है जो उनके मस्तिष्क में गूँज रहा है। कृष्ण-काव्य का सम्पूर्ण साहित्य यमुना के कछारों, लता-कुंजों के झुरमुटों तथा किनारे पर पाये जाने वाले कदम्ब आदि वृक्षों की डालों को लेकर लिखा गया है किन्तु इतने अपार साहित्य में एक भी ऐसा विशाल जीवंत चित्र नहीं आ सका है जो कि निराला जी ने अपनी 'यमुना के प्रति' नामक एक कविता में ला दिया है। यमुना का प्रत्येक कल-कल स्वर कवि को अतीत का गान सुनाता है वह उसके कछारों में काम-क्रीड़ा के दर्शन नहीं करता बल्कि उसे उसमें भारत का अतीत दिखाई पड़ता है। 'इसी प्रकार 'दिल्ली नाम की कविता में दिल्ली की भूमि पर दृष्टि डालते हुये 'क्या यह वही देश है।' कहकर कवि अतीत की कुछ इतिहास प्रसिद्ध बातों और व्यक्तियों को बड़ी सजीवता के साथ मन में लाता है।'[1]

'निस्तब्ध मीनार
मौन हैं मकबरे—
भय से आशा को जहाँ मिलते थे समाचार।
टपक पड़ता था जहाँ आँसुओं में सच्चा प्यार।'

हमने पूर्व ही इसका संकेत कर दिया है कि निराला जी समाज की परम्परित रूढ़ियों के दुर्वह भार को सहन नहीं करना चाहते थे। उन्होंने समाज की प्रायः सभी मान्यताओं एवं परम्पराओं को आमूल नष्ट कर देने की पूर्ण चेष्टा की है। इनका यह विद्रोह साहित्य, समाज और जीवन सभी दिशाओं में हुआ है, हमें उनकी आरंभिक कविताओं में ही उनकी स्वच्छन्दतावादी प्रकृति पूरे वेग पर मिलती हैं। 'पंचवटी' प्रसंग में गतानुगतिक ढंग से राम कथा को नहीं चित्रित किया गया है, शूर्पणखा वहाँ शायद एक नये ढंग से नारी के रूप में उपस्थित की गई है, किसी वीभत्स राक्षसी के रूप में नहीं। सच पूछा जाय तो निराला से बढ़कर स्वच्छन्दतावादी कवि हिन्दी में कोई नहीं है परिमल की जिन रचनाओं में वस्तु-व्यंजना की ओर कवि का ध्यान है उनमें उनका व्यक्तित्व स्पष्ट नहीं हुआ, किन्तु 'तुम और मैं' 'जुही की कली' जैसी

१—आ० रामचन्द्र शुक्ल 'हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ७१७

कविताओं में उनकी कल्पना उनके आवेगों के साथ होड़ करती है।'[1] भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के अपूर्व समर्थक होते हुए भी निराला जी ने एडवर्ड षष्ठम की अपनी कविता में इसलिये प्रसंशा की कि उसने राजवंशी एवं इग्लैंड की सभी सामाजिक व्यवस्थाओं एवं परम्पराओं को लात मारकर एक अमेरिकी महिला से परिणय सम्बन्ध स्थापित किया। समाज को साहस के साथ चुनौती देने वाला व्यक्ति का निराला की कविताओं में स्थान पा जाना स्वाभाविक ही है। जिस प्रकार निराला जी को सामाजिक बन्धन अरुचिकर हैं उसी प्रकार काव्य के छन्द बन्धन भी। निराला जी हिन्ही कविता में वाह्य-कला की स्वच्छ न्दता के सूत्रधार हैं। उनमें कवित्व कम किन्तु भावों का उद्वेग अधिक है। उनकी स्वाभाविक स्वच्छन्द एवं विद्रोही प्रकृति ने हिन्दी साहित्य में मुक्त छन्दों की परम्परा चलाई।

इनके ये मुक्त छन्द दो प्रकार के हैं तुकान्त और अतुकान्त। इन छन्दों में लय हैं, गीत है किन्तु कहीं-कहीं अधिक स्वच्छन्द होने के कारण वह गद्य सा हो गया है, और उसकी शृङ्खला भी ऐसी अस्त व्यस्त हो जाती है कि वह सांकेतिक भाषा सी जान पड़ने लगती है—

'राघव-लाघव-रावण-वारण गत युग्म-प्रहार,
उधृत-लंका-पति-मर्दित-कपिदल-बल विस्तर
अनिमेष-राम-विश्व जिद्र दिव्य-शर-भंग-भाव।
विद्धांग-बद्ध-कोदंड-मुष्टि-खर-रुधिर-श्राव ।'

'शुक्ल जी के अनुसार सबसे अधिक विशेषता आपके पद्यों में चरणों की स्वच्छन्द विषमता है। कोई चरण बहुत लम्बा, कोई बहुत छोटा, कोई मझोला देखकर ही बहुत से लोग रबरछन्द, केचुआ छन्द आदि कहने लगे थे। बेमेल चरण की आजमाइश इन्होंने सबसे अधिक की है।' 'प्रगल्भ प्रेम' नाम की कविता में अपनी प्रेयसी-कल्पना या कविता का आह्वान करते हुए इन्होंने कहा है—

आज नहीं है मुझे और कुछ चाह,
अर्द्ध-विकच इस हृदय कमल में आ तू।
प्रिय! छोड़कर बन्धन-मय छन्दों की छोटी राह।
गज-गामिनी वह पथ तेरा संकीर्ण,
कंटका कीर्ण।

१—हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य, पृ० ४८६।

इनकी कविता में समास युक्त लम्बी पदावली का बाहुल्य और क्रिया-पदों का लोप पाया जाता है। उनके एक-एक शब्दों में एक-एक वाक्य का अर्थ एवं विस्तार रहता है। लाक्षणिक प्रयोग कम हैं, जितने भी स्वच्छन्द छन्द हैं उनमें अविधा-शैली का ही अधिकतर प्रयोग किया गया है। संगीतात्मकता, ओज, नाटकीयता, अनुप्रास योजना और नवीन उपमाओं का प्रयोग उनकी शैलीगत कुछ अन्य विशेषतायें हैं। निराला की शैली में शृङ्गार की मधुरिमा, और वीर-रस या ओज, दोनों साथ-साथ पाये जाते हैं। इनके जैसा संयत शृंगार का वर्णन करने वाला आधुनिक हिन्दी-साहित्य में विरला ही मिलेगा। इनके शृंगारिक काव्यों में भी एक दार्शनिक तटस्थता है। नंगे से नंगे चित्र भी संयत और पवित्र है—

'पल्लव-पर्यंक पर सोती शेफाली के।
मूक-आह्वान भरे लालसी कपोलों के व्याकुल विकासपर
झरते हैं शिशर से चुम्बन गगन में॥'

भाषा के संस्कृत-गर्भित होने के कारण जहाँ कविता में बौद्धिकता आ गई है, वहाँ वह जटिल अवश्य है और जहाँ भावुकता के वेग में कवि की विचारधारा आगे बढ़ी है, वहाँ कोमलकान्त पदावली और सरस भाषा का प्रयोग हुआ है।

निराला को खड़ी बोली की क्रान्ति का सबसे बड़ा नेता माना जाय तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। खड़ी बोली के सम्बन्ध में हिन्दी-काव्यधारा में उन्होंने युगांतकारी परिवर्तन किया। भाषा के साथ-साथ हिन्दी काव्य में मुक्तक छन्दों की नवीन परम्परा के योगदान से उन्होंने युगान्तर ला दिया। निराला जी को एक अर्थ में प्रगतिशील नहीं कहा जा सकता क्योंकि प्रगतिवाद के लिये निश्चित की गई सीमाओं में उनको आबद्ध नहीं किया जा सकता किन्तु स्वाभाविक एवं सत्य मानदण्डो की दृष्टि से उनके यथार्थ प्रगतिशील रूप का दर्शन किया जा सकता है। उनके काव्य में दार्शनिक रुढ़ियाँ अधिक मुखर हुई हैं, फिर भी भिन्न वर्गों के जीवन की स्पष्ट झाँकी उनके काव्य में देखी जा सकती है। कवि की चेष्टा यही रही है कि वह कहीं यथार्थ की भाव-भूमि से न उतरे, इस चेष्टा में सत्य और यथार्थ के प्रति कवि का कट्टर अनुराग और असत्य और अयथार्थ के प्रति उसकी तीव्र घृणा अधिक भास्वर हो उठी है। इस प्रयास में भौतिक पक्ष पर उनके बौद्धिक पक्ष की विजय भी दृष्टिगत होती है। युगवाणी और युग की पगध्वनि का अनुवर्द्धन करने के साथ ही साथ कवि अपने भावों और विचारों के प्रति भी पर्याप्त दृढ़ है। समाज की जर्जर और

विकृत रूढियाँ अवश्य परिहार्य हैं लेकिन परिष्कृत रूप में उन्हें ग्रहण भी किया जा सकता है, प्रगतिशीलता के सम्बन्ध में कवि की मान्यता का यह दूसरा पहलू है। कवि की इस विचित्र प्रगतिशीलता का दर्शन 'कुकुरमुत्ता' नामक काव्य में सरलता से किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, अणिमा, बेला, नये पत्ते आदि कवितायें वास्तव में विचार और भावनाओं के नये पत्ते और पुष्प लेकर सामने आती हैं।

निराला जी की कविताओं में उस वर्ग का चित्रण मिलता है जिनकी स्थिति अभाव, शोषण, दुख-दमन और उपेक्षा पर ही है। समाजवादी भावनाओं का समर्थन करने वाली कुछ कवितायें ऐसी भी मिल जाती हैं जो बुद्धिवाद से बिल्कुल पार्थक्य रखती हैं। अत्याचार और दमन के प्रति कवि की प्रतिक्रियात्मक भावना को निम्नलिखित पंक्तियों में वाणी और स्वर मिल गया है—

जमीन्दार का सिपाही लट्ठ कन्धे पर डाले आया
और लोगों की ओर देखकर कहा डेरे पर थानेदार
आये हैं, डिप्टी साहब ने चन्दा लगाया है।
एक हफ्ते के अन्दर देना है, चलो बात दे
आवो। कौड़े से कुछ हटकर
लोगों के साथ कुत्ता खेतिहर का बैठा था चलते
सिपाही को देखकर खड़ा हुआ और भौंकने लगा,
करुणा से बन्धु खेतिहर को देखकर।

नये पत्ते पृ० ५४

महादेवी

आधुनिक हिन्दी साहित्य में 'प्रसाद' निराला' 'पन्त' और 'महादेवी चार ऐसे प्रकाश स्तम्भ हैं, जिनके आलोक से आधुनिक हिन्दी साहित्य जगमगा रहा है। इन चारों का हिन्दी साहित्य में अपना अलग व्यक्तित्व है। 'प्रसाद' में मस्ती, 'निराला' में विद्रोह, 'पन्त' में कोमलता और महादेवी में पीड़ा है। 'पन्त और 'प्रसाद तथा 'निराला' ने जिस काव्य शैली को गौरवान्वित किया था उनके बाद की रचनाओं में विकार आने लगा। जब 'छायावाद' के नाम पर परिकल्पित सीमा का भी अतिक्रमण होने लगा तो उसी स्थान से विकार का सूत्रपात भी हुआ। सुख के विरुद्ध दुःख का आकर्षण तो उपयुक्त है, परन्तु जब महादेवी ने आँसू को मिश्री से भी अधिक मीठा मान लिया तो वही उन्होंने सीमा पार कर दिया। उनकी जितनी भी ऐसी रचनायें हैं वे सन् १९३२ के बाद की हैं। जिनमें 'पन्त' 'प्रसाद' और 'निराला' की ताजगी नहीं रह पायी थी। जहाँ तक भावों की सूक्ष्मता का प्रश्न है, महादेवी में सबसे अधिक है। परिष्कार और मंडन आदि में तो महादेवी जी सबसे आगे हैं किन्तु उनकी अभिव्यक्ति उतनी जीवन्त नहीं है जितनी कि उनके अन्य समकालीन कवियों की। कला की दृष्टि से सबसे आगे होते हुए भी उन्हें कवि की दृष्टि से वह स्थान नहीं दिया जा सकता जो स्थान कि 'पन्त' 'प्रसाद' और 'निराला' को दिया जा सकता है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत है कि 'छायावादी कहे जानेवाले कवियों में महादेवी ही रहस्यवाद के भीतर आती हैं।' किन्तु इनकी कविताओं में बौद्धिकतत्व इतना उभड़ आया है कि उनकी रचनाओं में सरल हृदय की वह सरस अभिव्यक्ति नहीं रह पाई है जो कि एक रहस्यवादी रचना के लिये आवश्यक है। जिसने अलौकिक ब्रह्म के चरणों में अपने को डाल दिया तथा उसे ही एकमात्र प्रियतम के रूप में स्वीकार कर लिया, उसके लिये फिर संसार तथा उसकी माया कैसी। जब तक साधक के सामने ब्रह्म का ऐसा आलोक नहीं छा जाता जिससे कि संसार की सभी विकारयुक्त वस्तुयें अन्धकार की भाँति विलीन हो जाती हैं तब तक यही मानना चाहिये कि साधक की भावना किसी लौकिक अभाव के कारण भटक रही है। 'महादेवी' जी की रचनाओं में विरह की असह्य पीड़ा तो है, वेदना की विह्वल विवृत्ति तो है,

किन्तु स्वीकार करने का उतना साहस नहीं है जितना कि संकोच और झिझक। इनका प्रिय भी सब की आँख बचाकर, छिप कर आना पसन्द करता है, वह मीरा का नटनागर नहीं है कि जिसके लिये वे सभी लौकिक बन्धनों का त्याग कर सकेंगी। वे अपनी मर्यादा के हेतु प्रिय से दूर ही रहना चाहती हैं किन्तु मन पर काबू नहीं कर पातीं—'दूर रहकर खेलना, पर मन न मेरा मानता है।' इस मन और मर्यादा की दुविधा में उनकी भावना चक्कर काटती रहती है। प्रकट तो ऐसा करना चाहती हैं कि उनका प्रेम निष्काम है, वे अपने प्रेम का प्रतिदान नहीं चाहतीं, केवल विरह के रूप में ही जो कुछ उन्हें मिल गया है वह पर्याप्त है, किन्तु उसके मूल में उनकी असमर्थता ही है क्योंकि उनकी यह इच्छा सदैव बनी ही रहती है कि साध्य देख ले कि मैं उसके लिये कितनी साधना कर रही हूँ। यह दिखाने की भावना स्पष्ट कर देती है कि वे प्रतिदान चाहती हैं क्योंकि उन्हें विश्वास है कि यदि उनकी तत्परता अथवा विह्वलता साध्य देख ले तो वह द्रवित अवश्य हो जायगा। कवियित्री का लौकिक प्रेम ही बौद्धिकता एवं स्वाभाविक संकोच के सहारे साधना की ऐसी ऊँची भूमि पर पहुँच गया है कि अलौकिक जान पड़ने लगता है। अन्यथा हमें उनकी कविताओं में वैयक्तिक अनुभूति एवं वेदना की पराकाष्ठा दिखलाई पड़ती है। महादेवी जी जो यह कहती हैं कि—

'मिलन का मत नाम ले
मैं विरह में चिर हूँ'

से स्पष्ट जान पड़ता है कि कवियित्री को जीवन में विरह ही मिला है और भविष्य में मिलन की आशा भी शेष नहीं रह गयी है जिससे उन्होंने अपनी वर्तमान स्थिति के साथ समझौता कर लिया है। नहीं तो कभी भी घायल घाव नहीं चाहता। जो अभी घाव ही चाहता है, मालूम होता है उसकी गति घायल की है नहीं। महादेवी जी विरह और वियोग में रस अधिक ढूँढ़ती हैं, इसका अर्थ है विकलता उतनी अनुभव नहीं करतीं। बुद्धि जानती है इसी कारण वेदना में घुलने नहीं देती यानी वह भक्ति से भिन्न है। भक्ति में एक विह्वलता होती है। महादेवी के काव्य में इतनी अधिक कविता है कि उसी के कारण हम जान लेते हैं कि विह्वलता नहीं है। विह्वलता में भाषा के किनारे टूटे-फूटे बिना नहीं रह सकते जब कि महादेवी जी की कविता सुसज्जित भाषा का अनुपम उदाहरण है। वेदना वह है जो बुद्धि को भिगो दे। बुद्धि अलग से जिसे थामे रह सकती है, वह पीड़ा शायद बुद्धिगत है, प्राणगत नहीं, जब कि वेदना का मूल प्राण में है। इनकी कविताओं में से यदि संकोच

और शिक्षक निकाल दिया जाय तो निःसन्देह ही ये कविताये अभावजन्य प्रणयी-हृदय के स्वाभाविक स्वच्छन्द लौकिक उद्‌गार हैं। उनका काव्य व्यक्तिगत, मानसिक संघर्ष अभाव और बौद्धिकता के दुःखवाद से ओत-प्रोत है।'[1] जिन कविताओं के अन्दर महादेवी जी प्रेयसी की भूमिका में उतरी हैं उनमें लौकिकता की भूमि से जो वे अलौकिकता के आकाश पर भागती रहती हैं उनके लिये उनकी वैयक्तिक तथा सामाजिक परिस्थिति ही उत्तरदायी है और इसीलिये वे यह कह उठती हैं—

'प्रिय चिरन्तन है सजनि,
क्षण-क्षण नवीन सुहागिनी मैं।'

पांडित्य और बौद्धिकता के कारण इनकी कविताओं में साहित्यिकता अधिक भले आ गयी हो—

'जब असीम से हो जावेगा
मेरी लघु सीमा का मेल'।

जैसे गीतों में एक कहीं कुछ दूर की पुकार, पवन का एक झोंका, लहरों की एक करवट तथा तारों का कुछ मौन सन्देश भले लक्षित हो किन्तु निःसन्देह कवियित्री के मन में एक हूक उठी है जिस से वे गाने लगी हैं, उसे इससे कुछ मतलब नहीं कि वह क्या है। प्रिय की चिरखोज तथा चिर-अतृप्ति की प्यास से उनका काव्य आपूर्ण है। महादेवी जी की अभिव्यक्ति चाहे जैसी हो किन्तु वह वैयक्तिक तो अवश्य है। 'महादेवी' जी की कविताओं में 'चिरन्तन' और 'असीम प्रिय' अत्यन्त कोमल, मोहन और उत्सुक प्रणयी के रूप में चित्रित हुआ है।'[2] काव्यों में वैयक्तिकता को महत्वपूर्ण जो स्थान मिला है उसका एकमात्र श्रेय हिन्दी साहित्य में बढ़ती हुई स्वच्छन्द धारा को है जिसका अज्ञात प्रभाव महादेवी जी की रचनाओं पर भी है।

हिन्दी साहित्य के अन्दर कुछ विद्वान् ऐसे हैं जो स्वीकार करते हैं कि महादेवी जी के काव्यों में वैराग्य-भावना का प्राधान्य है। किन्तु इनके काव्य के सम्बन्ध में इतनी सरलता से निर्णय दे देना उपयुक्त न होगा। एक ओर तो उनकी पीड़ा अन्तर्मुखी अधिक है जिससे कहीं भी अपने को उभाड़ कर सामने नहीं रखा है और दूसरी ओर सिवा अपने भावों के दूसरे किसी के भावों की बात भी नहीं करतीं। एक ओर तो वे प्रेम-मार्गी सूफी सन्तों की

१. शची रानी तथा जैनेन्द्र कुमार प्रश्नोत्तर।
२. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य पृ० सं ४७५।

विचारधारा के निकट आती जान पड़ती हैं तो दूसरी ओर अध्यात्म परम्परागत धार्मिक रूढ़ियों से बहुत दूर दिखाई पड़ती हैं। इनके 'नीरजा' के गीत अनुभूति एवं चिन्तन के अमूल्य रत्न हैं जिनमें विरह, दुःख, वियोग और अद्वैत परक भावनाओं की ऐसी चमक निहित है कि सारा मानस आलोकित हो उठा है। अनुचित न होगा यदि डा० रामविलास शर्मा के स्वर में मिलाकर कहा जाय कि 'महादेवी' जी अपने गीतों में देवी के रूप में नहीं एक 'मानवी' के रूप में दर्शन देती हैं। वे अपनी भाव व्यंजना में इस धरती पर काम करने वाली मनुष्य नामक प्राणी ही नहीं, वरन् उसका एक भेद नारी भी हैं।' उनका नारीत्व सामाजिक सीमाओं के अन्दर विकास के लिये पंख फड़फड़ाता है, उसकी यह व्याकुलता अनेक सांकेतिक रूपों में उनकी कविताओं में प्रकट होती है। महादेवी जी की नारी प्रकृति की एक सरस विशेषता उनका हठ है। उनके प्राण पागल हैं तो हठीले भी हैं। अध्यात्मवादी महादेवी का अभिमान देखने योग्य है जो निजत्व देने में असमर्थ होकर प्रिय से मिलने नहीं देता।

'मिलन मन्दिर में उठा दूँ जो सुमुख से सजल गुंठन
मैं मिटूं प्रिय में मिटा ज्यों तप्त सिकता में सलिल कण
सजनि मधुर निजत्व दे कैसे मिलूँ अभिमानिनी मैं।'

'महादेवी' जी की कविताओं के अन्दर आधुनिक युगीन नारी की इच्छा और माँग निहित है। रीतिकालीन नारी के सामाजिक स्तर और आधुनिक नारी के सामाजिक स्तर के अन्तर को यदि जानना हो तो दोनों युग की कविताओं को सामने रखकर स्पष्ट किया जा सकता है। रीतिकाल की नारी का अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं था वह पुरुष की केवल भोग्या थी, उसकी अपनी कोई इच्छा नहीं थी उसे पुरुष की इच्छा पर निर्भर रहना था वह सहचरी नहीं बल्कि दासी थी। इसके अतिरिक्त पुरुष ने कभी यदि उदार हो उसे अवसर भी देना चाहा तो वह अपने जकड़े हुये संस्कारों के कारण अपना प्राप्य भी नहीं ले पाती थी, उसका संसार उतना ही बड़ा था जितना कि वह छिपकर खिड़कियों से देख पाती थी। किन्तु आज की नारी को वे सभी बन्धन अस्वीकार हैं। वह समानता का दावा करती है तथा स्वच्छन्द वायु में स्वांस लेना चाहती है। सामाजिक बन्धन उसके लिये इतने असह्य हो गये हैं कि वह उन्हें तोड़ डालने के लिये छटपटा रही है, तभी तो वह ऐसे साथी की खोज में है जो वायवी उड़ान में उसका साथ दे सके। प्रतिक्रिया के कारण उसका मन साधारण चंचल नहीं। उसके मन की गति इतनी बढ़ गयी है कि वह विश्व की सारी दूरी नाप कर ही दम लेगी। वह कहती है—

'द्रुत पंखों वाले मन को
तुम अन्तहीन नभ होना'

उसके मन में यह भावना प्रबल हो गयी है कि उसे स्वच्छन्द होना है चाहे मंजिल मिले या न मिले। वर्तमान से भविष्य अच्छा होगा उसने ऐसा सोच लिया है जिसके लिये वह आजीवन दौड़ लगाने के लिए तैयार है—

'आते जाते मिट जाऊँ
पाऊँ न पंथ की सीमा।'

वह वर्तमान दम-घुटनशील वातावरण से ऊब गयी है जिसके प्रति विद्रोह करने के लिये तैयार है। उसका यह विद्रोह जीवन की प्रत्येक दिशा में है वह अपने प्रत्येक रूढ़िग्रस्त सम्बन्धों को तोड़ना चाहती है, वे चाहे सामाजिक हों अथवा पारस्परिक या दाम्पत्य सम्बन्धी।

महादेवी जी निजत्व को मिटा कर प्रियतम तक से भी नहीं मिलना चाहतीं इसका कदापि अर्थ नहीं कि वे मिलना नहीं चाहतीं। यदि उनके स्वाभिमान को ठेस न लगे तो प्रियतम का स्वागत करने को तैयार हैं। पुरुष अपन प्राचीन थोथी मर्यादाओं के कारण झिझकता सा जान पड़ता है इसीलिये तो वह तम के पर्दे में छिप कर आना चाहता है जिसे महादेवी जी भली-भाँति समझती हैं जिससे वे सिफारिश भी करती है कि—

'नभ की वो दीपावलियो।
क्षण भर को तुम बुझ जाना॥'

इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ तक हो सका है 'महादेवी' जी ने अपनी कविताओं के द्वारा नारी अधिकारों की वकालता की है। इनकी सारी प्रणयानुभूति को अलौकिक मान लेना उनकी कविताओं के साथ अन्याय करना है। प्रेम का जो मधुर सम्बन्ध प्रेमी और प्रेमिका के बीच चलता है, वही सम्बन्ध हमें इनकी कविताओं में दिखाई पड़ता है। उसका जो सम्बन्ध उन्होंने परम पुरुष से स्थापित करा लिया है वह एक आवरण मात्र है, सो भी इसलिये कि उन्हें विश्वास है कि अभी समाज इस स्तर पर नहीं पहुँच पाया है कि वह पवित्र लौकिक प्रेम को सम्मान की दृष्टि से देख सके क्योंकि वह अब तक प्रेम का अर्थ स्त्री-पुरुष के शारीरिक सम्बन्ध से ही लेता आया है। इस युग की सबसे बड़ी विशेषता यही रही है कि हिन्दी कविताओं के अन्दर पवित्र प्रेम की स्थापना हुई है। रीतिकाल की शृङ्गारिक कविता में जो स्थान रति और काम का था इस युग में वही स्थान प्रेम को मिला है और रीतिकाल की नारी जो नायिका थी इस युग में प्रेयसी बन गयी है। महादेवी जी के

गीत उज्ज्वल प्रेम के गीत हैं, अतः उनका उच्चारण करते समय वासना की ऊष्ण गन्ध नहीं बल्कि पावन प्रेम की मादक गन्ध आती है। प्रेम पर लेखनी चलाने वाले प्रायः सभी कवियों में कहीं न कहीं असंयम आ गया है किन्तु इन्होंने अपने अन्तर की जिस सात्विकता और संयम-वृत्ति का परिचय दिया है वह उनके व्यक्तित्व की महानता ही नहीं है, बल्कि उनकी काव्य गरिमा का आधार स्तम्भ भी है।

'महादेवी' जी की कविताओं के साथ जो एक सबसे बड़ी समस्या है वह यह कि उन्हें एक विशेष पूर्वाग्रह के साथ देखा जाता है, हठात् उनमें रहस्य-वाद ढूढ़ने का प्रयत्न किया जाता है। थोड़ी देर के लिये यदि हम उनकी कविताओं को रहस्यवाद के भीतर मान भी लें तो किस रहस्यवाद के भीतर मानें, कबीर के रहस्यवाद के भीतर अथवा जायसी और मीरा के? इनकी कविताओं में निर्गुण सन्तों की वाणी ध्वनित अवश्य होती है किन्तु उस ध्वनि में उनकी जीवन-साधना की अनुभूति का कितना अंश है स्पष्ट नहीं हो पाता। सन्तों की भावना में आत्मा और परमात्मा का इतना ऐक्य है कि द्वैत का भान ही नहीं हो पाता। कबीर कहते हैं—

'सुनु सखि पिउ महिं जिउ बसे, जिउ महिं बसे कि पीउ।

किन्तु 'महादेवी' जी के काव्य में हम परोक्ष सत्ता की साक्षात् अनुभूति में विश्वास करने में इसलिये झिझकते हैं कि उसमें सन्तों के समान सघन एक स्वरता तथा सहज कांतता नहीं है। उनका मन कभी अद्वैत की ओर ललक पड़ता है तो कभी द्वैत की ओर दौड़ता दिखाई पड़ता है और कभी-कभी तो स्थूल के प्रति इतना आकर्षण दिखाने लग जाता है कि सब पर पानी फिर जाता है—

स्थूल के प्रति राग—

'कह दे माँ क्या देखूँ।
देखूँ खिलती कलियाँ॥
या प्यासे सूखे अधरों को।
या मुरझाईपलकोंसे झरते।
आँसू कन देखूँ।'

इनके काव्य का प्रधान तत्व प्रेम तो अवश्य है, पर सूफियों के अन्दर जो आध्यात्मिक श्रेणियाँ हैं वे इनमें नहीं, जिससे यह भी नहीं कहा जा सकता कि इनके काव्य पर सूफियों का प्रभाव है। मैंने पूर्व में ही प्रकट कर दिया है कि ये मीरा जैसी भक्त भी नहीं कही जा सकतीं। यद्यपि दोनों ने ही अपनी

साधना विरह से ही आरम्भ की है किन्तु दोनों के प्रियतम में महान् अन्तर है। 'मीरा' का गिरधर नागर भगवान अपनी लीला दिखा चुका है और वह साकार ब्रह्म है किन्तु महादेवी जी का ब्रह्म साकार नहीं है। महादेवी के अन्दर भक्ति भी नहीं है क्योंकि उसके लिये दैन्य का होना अनिवार्य है जिसके स्थान पर इनमें स्वाभिमान है जिससे वैयक्तिकता की गन्ध आती है। इनका दुःखवाद, विरहवाद, वेदनावाद सब एक ही है जो बुद्धिगत होने के कारण भाषा और कला में उलझ कर मानसिक व्यायाम बनकर रह गया है।

महादेवी जी की रचनाओं में आधुनिक युग का नारीत्व मुखर हुआ है। जो नारी महलों की चहारदीवारों के भीतर पति के कठोर आलिंगनों में जकड़ी रहती थी, वही अब स्वच्छन्द होकर प्रकृति के विशाल प्रांगण में आ गयी है। उसे अब केवल पति या पुरुष का ही सहारा नहीं चाहिए, उसके लिए प्रकृति ने अपनी विशाल भुजायें फैला दी है। वह उसके दुख में दुखी और सुख में सुखी होती है। इससे बढ़कर उसका सम्मान और क्या हो सकता है कि इनकी रचनाओं में प्रकृति पग-पग पर सहायता के लिये प्रस्तुत जान पड़ती है। यदि इनकी कविताओं से प्रकृति को अलग कर दिया जाय तो वे पंगु हो जायँ। उनका कोमल और कल्पनाशील हृदय जब इस लोक के व्यवहार से संतुष्ट नहीं हो सका और जब वे उसे अपनी असाधारण मानसिक स्थिति के कारण हृदय की बात न समझा सकीं तो प्रकृति को उपयुक्त पात्र समझकर उसके लिये चुन लिया। महादेवी जी प्रकृति के अन्दर विराट और अपनी दोनों की छाया देखती हैं जिसे हम प्रकृति से तादात्म्य की संज्ञा भी दे सकते हैं। वे सन्ध्या से अपनी तुलन करती हैं।

'प्रिय सांध्य गगन मेरा जीवन।
नव अरुण अरुण मेरा सुहाग॥
छाया सी काया वितराग।
सुधि भीने स्वप्न रंगीले घन॥

अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव से जो प्रकृति के मानवीकरण की परम्परा चली उसका भी प्रचुर प्रयोग इनकी कविताओं में पाया जाता है। किन्तु उसे वे अंग्रेजी साहित्य की देन नहीं मानती और उसकी परम्परा को वेद की ऋचाओं में मरुत, अग्नि आदि से जोड़ती हैं। इन्होंने अपनी रचना—

'धीरे-धीरे उतर क्षितिज से आ बसन्त रजनी!
तारक मय नव वेणी बन्धन,
शीश फूल शशि का कर नूतन,

रश्मि वलय, सितघन अवगुण्ठन,
मुक्ताहल अभिराम बिछा दे।
चितवन से अपनी।'

मैंने वसन्त रजनी को नारी रूप में चित्रित किया है। कभी, कभी तो इनकी कल्पना का क्षेत्र इतना बढ़ जाता है कि विराट प्रकृति भी उसकी लपेट में आ जाती है।

'लय गीत मदिर, गति ताल अमर।
अप्सरि तेरा नर्तन सुन्दर॥
आलोक तिमिर सित असित चीर।
सागर गर्जन रुन झुन मंजीर॥
.....
हिम करण बन झरते स्वेद निकर।
अप्सरि तेरा नर्तन सुन्दर॥'

यहाँ पर विराट सत्ता को अप्सरा के रूप में चित्रित किया गया है।

आलम्बन रूप में प्रकृति का जो मोहकरूप 'पंत' के 'पल्लव, में आ सका है, वह महादेवी की कविताओं में देखने को भी नहीं मिलता। महादेवी जी प्रकृति के एक-एक रूप को स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्रदान करती हुई उनके चेतन व्यापारों की कल्पना करती जान पड़ती हैं। काव्य में कल्पना का बाहुल्य छायावाद युग की सबसे बड़ी विशेषता रही जो महादेवी जी में प्रभूत मात्रा में मिल जाती है। अन्य स्वच्छन्दतावादी कवियों की भाँति महादेवी जी की कल्पना सीधी और वैयक्तिक अनुभूति की स्पष्ट प्रकटी करण नहीं है, बल्कि उसमें बौद्धिकता के बाहुल्य के कारण कवियत्री का प्रत्यक्ष सहज आँखों के सामने से ओझल ही रहता है। "कहीं-कहीं तो वह काल्पनिक व्यापार हमारे सौदर्य संस्कारों के प्रतिकूल पड़ जाता है और कहीं-कहीं वह इतना क्लिष्ट पड़ जाता है कि हम ईप्सित सौंदर्य की झाँकी नहीं पा सकते।" इन्हें उदाहरणों द्वारा देखा जा सकता है—

रजनी ओढ़े आती थी झिलमिल तारों की जाली।
उसके बिखरे वैभव पर जब रोती थी उजियाली॥

प्रभात काल में झिलमिल तारों की जाली ओढ़कर रजनी का जाना तो समझ में आता है पर उसके विखरे वैभव पर उजियाली का रोना समझ में नहीं आता। साधारणतः प्रभात को हँसते हुये ही आता माना गया है जिससे

सहज विश्वासों को दबाकर प्रभातकालीन नमी अथवा आँसूरूपी ओस के आधार पर ही उजियाली के रोने की क्लिष्ट कल्पना करनी पड़ती है। इसी प्रकार—

निश्वासों का नीड़ निशा का बन जाता जब शयनागार
लुट जाते अभिराम छिन्न मुक्तावलियों के बन्दनवार,
तब बुझते तारों के नीरव नयनों का यह हाहाकार,
आँसू से लिख जाता है कितना सुन्दर है संसार ॥

ये कविताये इतनी अन्तर्मुखी हैं कि वे प्रकृति के प्रत्येक कंप और मर्मर संकेतों से अपना परिचय नहीं कर पातीं। महादेवी जी कविता के प्रत्येक बन्द को स्वतन्त्र चित्र के रूप में प्रस्तुत करना चाहती हैं और उसके माध्यम से मानसिक वृत्तियों और वातावरणों को भी मुखरित करना चाहती हैं जिससे स्वाभाविक अभिव्यक्ति का कार्य उनके लिये अत्यन्त कठिन हो जाता है। महादेवी जी अपनी जिन कविताओं में अपने आग्रह से ऊपर उठ सकी हैं, उनमें हमें सजीव कविता का श्रोत बहता दिखलाई पड़ता है—

स्वर्ग का था नीरव उच्छ्वास, देव वीणा का टूटा तार।
मृत्यु का क्षण भंगुर उपहार, रत्न वह प्राणों का शृङ्गार ॥
नई आशाओं का उपवन, मधुर वह था मेरा जीवन।

इसी प्रकार जहाँ वे अस्पष्ट एवं क्लिष्ट उपमानों को छोड़ कर सरल भाव भूमि पर उतरी हैं उनके चित्र काफी सुलझे हुये चित्रित है, यद्यपि ऐसे चित्रों का महादेवी जी की कविताओं में अभाव है—

जाग-जाग सुकेशिनी री,
अनिल ने आ मृदुल हौले, शिथिल बेड़ी बन्ध खोले,
पर न तेरे पलक डोले, बिखरती अलकें झरे जाते सुमन,
वरवेषिनी री।

छाँह में अस्तित्व खोये अश्रु से सब रंग धोये,
मन्द प्रभ दीपक संजोये, पंथ किसका देखती तू
अलस स्वप्न निवेशिनी री।

करुणा की ओर महादेवी का झुकाव सर्वाधिक रहा है। अन्य स्वच्छन्द काव्य धारा के कवियों की भाँति उन्होंने व्यक्त प्रकृति के सौंदर्य प्रतीकों को न अपना कर उसके अव्यक्त गतियों और छायाओं का संग्रह किया है। यही कारण है की अपनी दुरूहता के कारण वे वर्णन पाठकों को रहस्यात्मक जान

पड़ते हैं यद्यपि उनमें वेदना की विवृत्ति ही निहित है। उदाहरण के लिये हम देख सकते हैं—

उच्छ्वासों की छाया में पीड़ा के आलिंगन में,
विश्वासों के रोदन में, इच्छाओं के चुम्बन में,
उन थकी हुई सोती सी उजियाली सी पलकों में,
बिखरी उलझी हिलती थी मलयानिल की अलकों में।

× × ×

जो बिखर पड़े निर्जन में निर्झर सपनों के मोती
मैं ढूँढ रही थी लेकर धुँधली जीवन की ज्योती॥

वेदना के क्षेत्र में व्यक्तिगत भावुकता से आरम्भ कर महादेवी जी क्रमशः भावना के क्षेत्र में विखरती गई हैं। जिसे उनकी एक उड़ान में देखा जा सकता है—

चाहता यह पागल प्यार अनोखा एक नया संसार,
कलियों के उच्छ्वास शून्य में ताने एक वितान,
तुहिन कणों पर मृदु कंपन से सेज बिछा दे गान,
जहाँ सपने हों पहरे दार अनोखा एक नया संसार।

भावना जगत में विचरण करने वाली महादेवी जी संयम की अधिकता के कारण जागरूक कलाकार के रूप में ही पाठकों के सम्मुख आती हैं। उनके काव्य में प्रकृति घुली-मिली है, उसका प्रयोग भाव और कला दोनों पक्षों में हुआ है किन्तु ऋतु आदि वर्णनों को उन्होंने कहीं पर भी आधार नहीं बनाया है जो स्वच्छन्दवादी साहित्य का मूलाधार है। उन्होंने अभिव्यक्ति के प्रत्येक क्षेत्रों में अपनी वैयक्तिकता और नवीनता का परिचय दिया है। किसी भी प्रकार का अंकुश उनकी कल्पनाओं को रोक नहीं सका है और न तो कहीं भी उनकी स्वच्छन्द भावनाओं का मार्ग ही अवरुद्ध हो पाया है जो कुछ थोड़ा सा दुराव-छिपाव रह गया है उसके लिये उनका नारी व्यक्तित्व उत्तरदायी है।

रामकुमार वर्मा

डा० रामकुमार वर्मा स्वच्छन्द काव्य के 'द्वितीय उत्थान' में आते हैं। छायावादी कविताओं के क्षेत्र में उनका नाम जयशंकर प्रसाद, 'निराला', 'पन्त' और महादेवी जी के बाद सादर लिया जा सकता है। रहस्यवाद के कवियों में ये महादेवी के बाद ही स्मरण किये जायेंगे। प्राध्यापक रहे हैं और आजकल प्रयाग-विश्व-विद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष भी हैं, अतः समीक्षण, अनुशीलन एवं चिन्तन उनकी काव्य-प्रवृत्ति की एक प्रमुख विशेषता है। 'वीर हम्मीर', 'कुल-ललना', 'चितवन' प्रारंभिक रचनाएँ हैं। 'चित्तौड़ की चिता' एक ऐतिहासिक कथानक वाला प्रबन्ध है। 'अभिशाप', अंजलि', 'रूप-राशि' 'निशीथ', 'चित्ररेखा', 'चन्द्रकिरण' और 'आकाश गंगा' इनके स्फुट गीत-संग्रह एवं 'एकलव्य' इनका महाकाव्य है। 'चित्ररेखा' पर देव-पुरस्कार' तथा 'चन्द्रकिरण पर 'चक्रधर पुरस्कार' मिले हैं। इनके गीतों का कथ्य चिन्तन के आलोक से प्रोदभासित होता है। लगता है कवि ने मनन और अनुशीलन के साथ अपनी अनुभूतियों पर निधिध्योसन किया है, इसी से उनकी अनुभूतियों की रीढ़-स्वरूप आदि से अन्त तक गीत के भीतर एक दार्शनिक चिन्तन का सूत्र विस्तृत होता है। यही कारण है कि उनके चित्रों में क्लिष्ट चित्र-संकुलता न होकर स्पष्ट-बिम्बता होती है, उदाहणार्थ निम्न पंक्तियों की स्पष्ट-चित्रता प्रस्तुत है।

"मैं तुम्हारे नूपुरों का हास।
चरण में लिपटा हुआ करता रहूँ चिरवास।"

इस चिन्तन ने संसार की सुख-दुःख-मयी नश्वरता की ओर भी उन्हें प्रेरित किया है—

"दया कहाँ है ? द्वेषित उसको
करता रहता रोष;
पुण्य कहाँ है ? उसमें भी तो
छिपा हुआ है दोष।
धूल हाय ! बनने ही को
खिलता है फूल अनूप;

वह विकास है मुरझा जाने
ही का पहला रूप।"

नश्वरता के साथ दुःखवाद और क्षण-वाद का विषाद स्वर ही नहीं, जीवन के विरह-मिलन के प्रति भी श्री 'वर्मा' का ध्यान केन्द्रित हुआ है, अतः वे एकाँगी नहीं हैं—

"आज तुम्हारे उर से मेरे उर का नव शृंगार है;
बाहु-पाश का स्पर्श कंठ पर मानो पुलकित हार है।
मेरे उग में आज तुम्हारी चितवन का अभिसार है;
यह जीवन मधु भार है।"

मिलन-वियोग की रचनाओं में चिन्तन के साथ कल्पना और भावना का आलेप भी परिलक्ष्य है। 'ओस के प्रति', 'ये गजरे तारों वाले', 'एकान्तगान' एवं 'अंजलि' कविताओं में कल्पना का सुन्दर विलास एवं भावुकता का मनोहर नर्त्तन है।

डा० रामकुमार वर्मा हिन्दी खड़ी बोली के रहस्यवादी कवियों में भी ऊँचे स्थान के अधिकारी हैं। महादेवी जी के रहस्य गीत भावुकता और कल्पना के पंखों पर उड़ते हैं तो डा० वर्मा के रहस्यात्मक गीत चिन्तन के आलोक से सप्रभ हैं। हृदय में ही कोई अनजानरूप से छिपा है—

"एक वेदना विद्युत-सी खिंच-खिंचकर चुभ जाती है;
एक रागिनी चातक स्वर में सिहर-सिहर गाती है!
कौन समझे समझावे गान!
छिपा उर में कोई अनजान!!"

डा० वर्मा के गीतों पर कबीर के रहस्यवाद और अद्वैतवाद का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। कवि की प्रेमसाधना इसी से विराट् की भूमिका पर झलक मारती हुई दिखलाई पड़ती है वह सारी सृष्टि में भी अनुभूत है—

"रवि शशि ये बहते चले कहाँ, यह कैसा है भीषण प्रवाह?
मैं भूल गया हूँ कठिन राह।"

अपने ही सा वियोगी वह प्रकृति के उपकरणों को भी मानता है—

"इतना विस्तृत होने पर भी क्यों लेता है नभ का शरीर!
वह कौन व्यथा, जिस कारण है सिसका करता तरु में समीर?"

वर्मा जी ने अपने रहस्यवाद को आधुनिक युगीन मनोविज्ञान की उपलब्धियों की भूमि पर विस्तीर्ण किया है, अतः वह कबीर की, उलटवासी

से भिन्न मनोवैज्ञानिक हो गया है। कदाचित् दार्शनिक गुत्थियों की इन्हीं उद्धरिणियों के अभाव में पुरातनवादियों ने इसमें अविश्वास भी व्यक्त किया है, पर यह रहस्यवाद मनोविज्ञान-समस्त है। कवि कभी 'जलद-जाल' बनकर विश्व को सींचने की अभिलाषा भी करता है—

"मैं आज बनूँगा जलद जाल !"

'वर्मा' जी अपने गीतों में छोटे-छोटे चित्रों के सजाने में बड़े निपुण हैं। कभी रात को जुही-सी खिली और कभी चुम्बन-सी मीठी कहकर एक ससीम चित्र में ही अरूप और अत्यन्त व्यापक सौंदर्य को मर्म-केन्द्रित कर देते हैं। अधिक को थोड़े में कस कर स्पष्ट अप्रस्तुतों और प्रतीकों के चयन से प्रभाव-वृद्धि में बड़ी सहायता मिलती है।

उषा अभी सुकुमार क्षणों में
होगी वही सतेज;
लता बनेगी ओस-बिन्दु की
सरल मृत्यु की सेज;"

× × ×

दिन को क्यों लपेट लेती है
श्याम वस्त्र मैं रात ?
और कांच के टुकड़े बिखरा
कर क्यों पथ के बीच
भूले हुए पथिक शशिको दुख
देता है नभ नीच ?

डा० वर्मा के गीतों पर अभिव्यक्ति-पक्ष में उर्दू की विरोधात्मक एवं समतुल्य युक्ति-विन्यास की शैली का भी प्रचुर उपयोग हुआ है। इससे अभिव्यक्ति में बल आया है। डा० वर्मा ने कवीन्द्र रवीन्द्र का भी अध्ययन किया है। काव्य के दर्शन पक्ष पर डा० वर्मा की अटूट निष्ठा है, इसीसे उनकी पंक्तियाँ भावुकता से लुजलुज नहीं, वरन् विचारों से सतेज हैं। उनकी कल्पना उनके चिन्तन के वृत्त से विलग नहीं, उससे सदैव अनुशासित हैं। उनके गीतों के गीतात्मक तत्वों एवं सम्यक् सन्तुलन में निरन्तर विकास हुआ है। आरम्भ के गीतों की भाषा किंचित शुष्क और गद्यवत् भी लगती है, पर धीरे-धीरे उनमें कल्पना की मसृणता एवं अनुभूति की मेदुरता से माधुर्य एवं रंग-मयता बढ़ती गयी है। 'निराला' का दर्शन बौद्धिक, 'प्रसाद' का भाव सहगत, 'पन्त' का

कल्पना-प्रेरित, महादेवी का अनुभूति-अनुगत और डा० वर्मा का दर्शन-पक्ष चिन्तन-प्रणोदित है। उसमें नवीन उद्भावना तो नहीं, पर प्राप्त सरणि पर ही कवि का आलोक-मय चिन्तन प्रमुख होता है।

गीतकार के साथ ही डा० वर्मा प्रबन्ध-कार भी हैं। यह प्रबन्धात्मक रुचि आरम्भिक ऐतिहासिक कथाओं के आधार पर नहीं है, जिनमें राजपूती इतिहास तथा मुग़ल इतिहास प्रमुख है। यही प्रवृत्ति 'एकलव्य' नामक महा-काव्य में परिस्फुट हुई है।

पीड़ा, दुःख, विषाद, निराशा और उल्लास-जीवन के सभी पक्षों का 'वर्मा' जी के गीतों में मार्मिक चित्रण हुआ है। 'वर्मा' जी के गीत भाव, कल्पना, विचार और कला, किसी भी दृष्टि से अभाव ग्रस्त नहीं हैं, फिर भी चिन्तन का प्रकाश उनके गीतों की विभाजक विशेषता है। भाषा की दृष्टि से वर्मा जी विशु-द्धतावादी दिखलाई पड़ते हैं। अरबी फारसी के शब्दों का प्रयोग ('बच्चन की भाँति) उनमें विरलतम और न्यूनतम हैं। प्रकृति के उपकरणों को उन्होंने अपने काव्य में उपादान-रूप में सुन्दरता से ग्रहण किया है। अधिकांशतः उनके गीतों का प्रकृति-वर्णन रहस्यात्मक, मानव-भाव-रंजित और उद्दीपन-रूप मे प्रयुक्त हुआ है। स्वतंत्र प्रकृति पर उनकी उक्तियाँ बहुत कम अथवा नहीं के बराबर हैं।

देखना स्वच्छन्दतावादी कवियों की प्रमुख विशेषता रही है। 'बच्चन' जी का भी अन्तर जब आकुल होता है तो उसे सर्वत्र प्रकृति में दुःख ही दुःख व्याप्त दिखलाई पड़ता है।

लहर सागर का नहीं श्रृङ्गार,
उसकी विकलता है;
अनिल अम्बर का नहीं खिलवार,
उसकी विकलता है;
विविध रूपों में हुआ साकार,
रंगों से सुरंजित;
मृत्तिका का यह नहीं संसार,
उसकी विकलता है।

(आकुल अन्तर)

इस प्रकार उन्हें सर्वत्र विकलता ही विकलता दीख पड़ती है जो उनके ही अन्तर की छाया है। कुल मिलाकर 'बच्चन' का काव्य मिलन काल में बिछुड़न की आशंका और नारी के स्थूल एवं मांसल सौन्दर्य की अतृप्ति से ओतप्रोत है। विचारों और भावों का समन्वय उन्होंने अत्यन्त कलात्मक ढंग से प्रस्तुत करने में सफलता अवश्य पाई है पर उनमें स्थूलता के दर्शन हो ही जाते हैं—

आज सजीव बना लो प्रेयसि!
अपने अधरों का प्याला॥
भर लो-भर लो-भर लो इसमें,
यौवन मधुरस की हाला।
और लगा मेरे अधरों से,
भूल हटाना तुम जाओ।
अथक बनूँ मैं पीने वाला,
खुले प्रणय की मधुशाला।

(मधुशाला)

विषय एवं स्वरूप को लेकर कविता के क्षेत्र में इधर जो नये-नये प्रयोग किये जा रहे हैं, उसका प्रभाव 'बच्चन' की बाद की लिखी जाने वाली कविताओं पर भी पड़ा है।

शम्भूनाथ सिंह

डा० शम्भूनाथ सिंह की प्रथम गीत-कृति 'रूप-रश्मि' है। इसमें 'रूप' से कवि की लौकिकता एवं 'रश्मि' से उसकी आन्तरिकता के उभय पक्षों का सन्तुलन स्पष्ट हो जाता है। 'रूप-रश्मि' के गीतों में कवि के तरुण हृदय ने छायावादी अनुभूति-कुहासा से बाहर आकर मुक्त दृष्टि के सहज रश्मि-आलोक में जीवन और मानव को देखने-परखने का नूतन प्रयास किया है। डा० शम्भूनाथ में रूप एवं प्रेम-सुख के लिए बच्चन की-सी मरणकामी दुर्दान्त प्यास की ज्वालाओं का अतुष्ट हाहाकार, निराशा का कुहांधकार और भोग की एकान्त लालसा की चटकार नहीं मिलेगी। 'बच्चन' ने छायावादी अतिवायवीयता एवं आकाशीय पलायन के विरुद्ध विद्रोह तो किया, पर उनके विद्रोह में जवानी की उन्मत्त निरंकुशता और असफलताओं के साथ भयावह नैराश्य की भ्रान्त पुकार भी चीखती सुनाई पड़ती है। 'बच्चन' का विद्रोह जड़ीभूत रूढ़ि-चट्टानों पर सर पटकती हुई भोगोतृषित जवानी का विद्रोह है, इसीलिए उसमें धूम-धुंध की मार्ग-रोधी कुज्झटिका भी स्पष्ट है। डा० शम्भूनाथ सिंह में भी रूप की लालसा, सुख-भोग की तृषा एवं प्रेम की पुकार है, पर यह तृषा और पुकार कल्पनाओं के रमणीय चित्रों, प्रकृति के मोहक रूपों एवं आसक्ति-अनासक्ति के बीच एक जीवन-वाही प्रवृत्ति की प्रेरणाओं से संपोषित होकर जहाँ एक ओर पाठकों को छायावाद के अस्पष्ट अनुभूतिलोक से उतार कर जानी-पहचानी भाव-भूमि पर ला खड़ा कर देती है, वहीं अत्यन्त सुपरिचित जीवन-संपर्कों एवं समाज-सम्बन्धों को भी भाव-कल्पना की आन्तरिक फुहारों से रंगीन एवं रस-मय बना देती है। 'रूप-रश्मि' के कवि ने 'छायालोक' में आकर छायावाद की 'छाया' में छिपे 'आलोक' को प्रसारित एवं प्रसाधित किया है। इस गीत-संग्रह में 'पास' और 'दूर' तथा 'आकाश' और 'धरती' दोनों ही जीवनछोरों को अपने कल्पना—पाश एवं अनुभूति-आभोग में सन्तुलित किया गया है। 'प्राण तुम दूर भी, प्राण तुम पास भी' प्रतीक वाले गीत में नारी के माध्यम से जीवन के इन्हीं दो छोरों का समालिंगन किया गया है। 'समय की शिला' प्रतीक वाला गीत कवि की तत्कालीन मनोभूमि का पूर्ण प्रतिनिधि गीत माना जाना चाहिए।

डा० शम्भूनाथ सिंह के गीतों की विशेषताओं में कल्पना की रंगिम सचित्रता, अनुभूति-ऐन्द्रियता एवं भाषा की सहज तत्समता प्रमुख है।

श्री सिंह में कल्पना का एक सरस एवं चित्रात्मक प्रवाह विद्यमान है। यह कल्पना गीतों में भाव एवं अनुभूति की ऊष्मता से विरहित होकर सक्रिय नहीं हुई है, उसे भावों एवं अनुभूतियों का समर्थन प्राप्त होता है। यह कल्पना छोटे-बड़े रंगीन चित्रों में प्रस्फुरित होती चलती है और प्रकृति के रूप-संसार में जाकर वहाँ से मधु-मक्षिका की भाँति सुन्दर-सुन्दर दृश्यों, घटितियों एवं रमणीय दशाओं का चयन कर गीतों में उन्हें नगीनों-सा जड़ती रहती है। इन चित्रों में रूप, रस, गन्ध, वर्ण एवं स्पर्श की तन्मात्राओं का रमणीय संगुम्फन होता है। नीचे की पंक्ति में दिन एवं रात को किस प्रकार कुछ चुनी दशाओं में आकलित किया गया है—

'दिन थे प्रणव-हास, निशि प्यार के पाश!'

—('छायालोक')

निम्न प्रकृति-चित्र कवि की सौन्दर्य-सर्जिनी कल्पना का सुन्दर उदाहरण है—

"गगन ने प्रणय-चित्र खींचे नयन में,
उतरती हुई उर्वशी देख घन में,
अचल किन्तु चल चित्र थे हो न पाये,
कि सहसा बुझी रूप की ज्योति छन में।"

(समय की शिला, 'छायालोक')

डा० शम्भूनाथ जी के गीतों की दूसरी विशेषता है ऐन्द्रिय अनुभूति। उनकी चेतना में ऐन्द्रियता की अनुभूति बड़ी सजग है। रूप, रस, गन्ध, घ्राण आदि से सम्बन्धित इन्द्रियों से वे अपने चतुर्दिक जगत् की तीव्र अनुभूति रखते हैं। उनकी कल्पना उनकी ऐन्द्रिय अनुभूतियों के इसी भण्डार से उपादान लेकर गीतों में उत्तेजक एवं प्रभावक चित्रों को सुन्दर योजना करती है। यह ऐन्द्रियता ही उनकी अभिव्यक्ति को इतनी चित्रात्मकता प्रदान कर सकी है। 'पुरवैया धीरे बहो' जैसे गीत उनकी ऐन्द्रिय चित्रात्मकता के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। 'मै वह खण्डहर जिसके माँथे पर अधियाली साँझ की उतर गयी' जैसी पंक्तियाँ आँखों के सामने छाए निराशा-भार को खण्डहर पर उतरी सायं अधियाली का प्रभावक चित्र साकार अनुभूति-प्रत्यक्ष कर देता है। शम्भूनाथ सिंह में दृष्टि-चेतना एवं गन्ध-चेतना से सम्बन्धित चित्र प्रधानतर है।

भाषा की सहज-सरस तत्समता इनके गीतों की तीसरी प्रमुख विशेषता है। उर्दू के शब्दों का आत्यन्तिक अभाव एवं भाव-सम्पृक्त तथा कल्पना-तरल पदावली का चयन इनके गीतकार को 'बच्चन' के अभिधा-प्रधान एवं चित्र-विहीन भाव-योजन से सर्वथा भिन्न स्थिति प्रदान कर देती है। 'बच्चन' की

भाषा उर्दू के शब्दों का बाहुल्य रखती है। डाक्टर साहब की भाषा चित्रात्मक, लाक्षणिक एवं रस-मसृण है। तत्समता के साथ क्लिष्टता का सर्वथा अभाव है। अप्रस्तुत-विधानों एवं बिम्ब-योजनाओं में कवि नवीनताओं एवं मौलिकताओं की वीथियों में गया है। उपमान घिसे-पिटे न होकर अनुभूति के मर्मोद्घाटन की दृष्टि से चुने गये हैं।

श्री शम्भूनाथ सिंह ने 'बच्चन' जी के काव्य में आए मानववाद को अधिक स्वस्थ, प्रकृतिस्थ एवं कलात्मक रूप में ग्रहण किया है। 'बच्चन' का मानव एक ऐसा व्यक्ति है, जो भूखा है, प्यासा है, जिसे समाज से घोर असन्तोष है, क्योंकि समाज के वृद्धजनों को उसकी जवानी अखरती है, उसका स्पष्ट-वाद और सहजग्रहण चुभता है। शम्भूनाथ सिंह के मानव के सामने वैसी प्रतिरोधी दीवालें नहीं हैं अथवा वह उन दीवालों के प्रति उतने तीखे रूप में प्रतिक्रियमाण नहीं हैं। इसी से श्री सिंह समाज पर व्यंग्य नहीं कसते, वरन् अपने प्रीति-प्रणय-भाव को सुव्यवस्थित एवं परस्पर सुनियोजित करने के प्रति अधिक सजग दिखलाई पड़ते हैं। 'बच्चन' का प्रणयी सशंक, निराशावादी अतः एक त्राण कुंज के निरन्तर शोध में संलग्न दिखलाई पड़ता है, पर शम्भूनाथ सिंह का प्रेमी प्राप्त को ही अधिक प्राप्य और सुन्दरतर बनाने को समुत्सुक है। कदाचित् इसीलिए उनका प्रेमी प्यास को मधुरतर बनाता और भूख को परिशोधित करता दिखलाई पड़ता है।

श्री शम्भूनाथ सिंह की गीतों में अटूट आस्था है, किन्तु साथ ही वे गीतों को ही मात्र काव्य-विधा मानने वालों में नहीं हैं; वे चतुर्दश-पदियों एवं मुक्त-वृत्तों में अन्य प्रकार की अगीतात्मक अनुभूतियों को बाँधने की उपयोगिता को स्वीकार करते हैं, जिसे उन्होंने साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान' के फरवरी के एक अंक में मुक्त रूप से स्वीकार किया है। ये ध्वनियों और लयों के निरन्तर खोजी और सफल उपयोक्ता हैं।

प्रकृति के मनोरम दृश्यों की ओर सहज आकर्षण का होना स्वच्छन्दतावादी कवियों का प्रधान गुण रहा है। शम्भूनाथ सिंह जी मुख्यतः प्रेम और रूप के रससिद्ध गायक रहे हैं, फिर भी प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति सहज आकर्षण जहाँ कहीं भी उनकी कविताओं में स्पष्ट होकर उभड़ा है, वहीं हमें गीतों की बजती धुन में प्रकृति की सजीव सुषमा झाँकती हुई दिखलाई पड़ती है। प्रिया की टेर और प्रकृति के सम्मोहन के बीच चित्रित कवि का अन्तर्द्वन्द्व द्रष्टव्य है—

टेर रही प्रिया, तुम कहाँ?
किसकी यह छाँह

और किसके ये गीत रे ?
बरगद की छाँह
और चैता के गीत रे ?
सिहर रहा जिया, तुम कहाँ ?
टेर रही प्रिया तुम कहाँ ?
किसके ये काँटे हैं
किसके ये पात रे ?
बैरी के काँटे हैं
केले के पात रे।
बिहर रहा हिया, तुम कहाँ ?
टेर रही पिया, तुम कहाँ ?

(टेर माध्यम मैं)

काव्य-शिल्प को लेकर इधर जो नवीन प्रयोग किये गये हैं, शम्भूनाथ सिंह जी भी उसकी चपेट में आये हैं, पर उनका कवि मन की गहराइयों में न जाने किस स्मृति-चिंतन में खोया रहता है कि उसके लिये प्रकृति के नयनाभिराम दृश्य 'अवान्तर' हैं। कवि ने अपने आस-पास प्रकृति के जिस सौन्दर्य को देखा है, उसके प्रति अपना पूर्ण आकर्षण व्यक्त करते हुये एक ऐसे वातावरण की सृष्टि की है जिसमें एक अद्भुत वेदना है, टीस है, कुतूहल है। कवि को जो कुछ कहना है, वह उसे नहीं कह पाता, पर प्रकृति के माध्यम से निर्मित वातावरण सब कुछ कह देता है। प्रकृति को आलम्बन रूप में चित्रित करते हुये कवि ने जिस मानसिक जगत की शक्तिमत्ता का परिचय एक ही स्थल पर पाठकों को कराया है, वह स्तुत्य है—

ये सभी अवान्तर हैं.....
चम्पे के वन में
ऊँचे भीटों वाला वह पद्म-सर,
दुपहर में झींगुर की तीखी आवाज़े
जल पाँखी की डुबकियाँ
धूप में नहाती
जल परियों की क्रीड़ाएँ
और
अनासक्त द्रष्टा दो रीति-रीति आँखें,
ये सभी अवान्तर हैं !

घाटी की चोटी में
गुंथे हुये मेघों के फूल
जल के आवर्तों से घिरी
शिलाखण्डों की नौकाएँ,

पीछे से दबे पाँव आ
सहसा आँख मूँदती नटखट पुरवाई,
झरने के पूछे हुए प्रश्न
और
निरुत्तर अनाहत यायावर मन,
ये सभी अवान्तर हैं।

(अवान्तरता)

शम्भूनाथ सिंह की इस प्रकार की रचनाओं में कलात्मकता के दर्शन तो होते ही हैं, साथ ही साथ सांकेतिकता का जो सफल निर्वाह पाया जाता है, उससे एक ऐसे रोमानी वातावरण की सृष्टि हुई है कि जिससे अपने टूटते संस्कारों के साथ पाठक एक अजब ताज़गी एवं उत्फुल्लता का अनुभव करने लग जाता है—

बीत गये मन वे दिन बीत गये!
रंगों के क्षण अनगिन बीत गए!
फूलों की हथकड़ियाँ टूट गईं,
कोसों पीछे वन की राहों पर—
चन्दन की गन्ध कहीं छूट गई!
वह बूझी अनबूझी बात गई,
वे गाये—अनगाए गीत गए!

× × ×

दीख रही है कोई राह नहीं,
इस उजड़ी बेगानी बस्ती में—
रहने की अब कोई चाह नहीं?
पथ के पहिचाने पद हार गए,
पद के अनजाने पथ जीत गए।

(बीत गए मन !)

इस प्रकार शम्भूनाथ सिंह की कविताओं में स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा में हुये परिवर्तनों का विकास क्रम भी देखा जा सकता है।

प्रो० 'क्षेम'

प्रो० क्षेम श्री शम्भूनाथ सिंह की पीढ़ी के ही सफल गीतकार हैं। छायावादोत्तर गीतकारों का उल्लेख करते हुए श्री पं० नन्ददुलारे जी वाजपेयी ने 'जीवन-तरी' की भूमिका में जिस गीतकार-त्रयी का नाम दिया है उसमें प्रो० क्षेम का नाम द्वितीय है। वे नाम हैं, शम्भूनाथ सिंह, क्षेम एवं महेन्द्र। श्री महेन्द्र ने दर्जनों सुन्दर गीतों की रचना की और ये गीत तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं एवं सम्मेलनों में बड़े आदर एवं प्रियता के साथ सुने गये हैं, पर सहसा और असमय में ही उन्होंने अपनी गीत-लेखनी को विश्राम दे दिया। श्री शम्भूनाथ सिंह के साथ प्रो० क्षेम निरन्तर लिखते गये, अतएव छायावादोत्तर गीतकारों में श्री शम्भूनाथ जी के साथ इनका नाम भी अपनी गीत प्रतिभा, मौलिकता एवं विशिष्टता के कारण प्रचुर रूप में लोकप्रिय हुआ है। श्री क्षेम जी के साथ एक समस्या यह रही है कि इनके लिखित गीत सदैव से विलम्ब में प्रकाश पाते रहे हैं। सन् १९३८ से लेकर १९५० तक के गीत-चुनकर प्रथम संकलन 'जीवन-तरी' में प्रकाशित हुए। इन गीतों की सम्मेलनों एवं पत्रिकाओं के अतिरिक्त समीक्षकों ने भी प्रशंसा की है। 'देश-दूत', 'कर्मवीर', 'आज', 'माधुरी', 'सरस्वती' एवं 'हिमालय' जैसी प्रसार-प्राप्त पत्रिकाओं में उन्हें स-सम्मान स्थान मिला है और आचार्य वाजपेयी, डॉ० रामकुमार वर्मा, पं० माखन लाल चतुर्वेदी, पं० रामनरेश त्रिपाठी, क्षेमचन्द्र 'सुमन', विश्वम्भर 'मानव' जैसे आलोचकों ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है; पर पुस्तकाकार विलम्ब से आने के कारण आलोचकों ने इन गीतों के रचना-काल और रूप-द्रव्य पर सापेक्ष विचार कर इनको यथोचित ऐतिहासिक मूल्य देने में अपेक्षित उत्साह नहीं दिखलाया है। 'नीलम-तरी', 'ज्योति-तरी' एवं 'संघर्ष-तरी' के गीतों के 'नीलम, ज्योति और संघर्ष' नामक एकत्र संकलन के गीत यदि इतिहास के परिप्रेक्ष्य में देखे जाँय तो इनका मूल्य और बढ़ जायगा।

श्री शम्भूनाथ सिंह एवं क्षेम जी के गीत बहुत कुछ समानान्तर बहे हैं, पर उनमें द्रव्य की प्रकृति एवं अभिव्यक्ति के रूप, दोनों ही दृष्टियों में पर्याप्त अन्तर एवं मौलिकता है। श्री शम्भूनाथ सिंह जी की तरह क्षेम जी ने भी मुख्यतः प्रेम-प्रणय के गीत लिखे हैं और स्वभाव से रोमानी हैं, पर श्री शम्भूनाथ सिंह जी जहाँ कल्पना के रोमानीपन और अनुभूतियों की ऐन्द्रियता के कारण उस समय के अन्य गीतकारों से स्पष्ट हैं, वहीं क्षेमजी अनुभूतियों के

परिशुद्धीकरण, प्रेम के विशदीकरण एवं कल्पना के आदर्शीकरण के साथ-साथ पद-संगुम्फन के भावानुरणन के लिए अपने समसामयिकों में अन्यों से भिन्न परिलक्ष्य हैं। इनके गीतों में ऐन्द्रियता के स्थान पर चिन्तन का स्फुट आलोक दिखलाई पड़ता है। क्षेम जी अनुभूतियों के मुक्तप्रकाशन के समर्थक नहीं हैं, वे परिशोधित एवं उदात्तीकृत अभिव्यंजन के अनुमोदक हैं; इसीलिए इनके गीतों में मानववाद से अधिक मानवता-वाद और आदर्शवाद का अनुगुंजन है। यह आदर्शवाद, नैतिकवाद अथवा विशुद्धतावाद की आचारिकता नहीं है, अपितु इसमें प्रवृत्तिवादी मानव का एक परिशोधित रूप पाया जाता है, जो प्रेम को न तो अश्लील शृङ्गार मानता है और न त्याज्य अश्लीलता, वरन् उसे जीवन-प्रेरणा के एक पवित्र स्रोत एवं नियामक अनुशासन के रूप में स्वीकार करता है। इसीसे क्षेम जी के गीतों में संयोग एवं वियोग की मार्मिक अनुभूतियों एवं रमणीय छवियों का सुन्दर चित्रण है, पर अनुभूति एवं अभिव्यक्ति में सर्वत्र एक अनुशासन, शील एवं संयम है। 'प्रिय भूलों के लिए क्षमा दो, मैं अपने पथ पर अब चलता' प्रतीक वाला 'जीवन-तरी' का गीत वियोग के मार्मिक मूल्यांकन एवं प्रेम की पावनता के निरूपण की दृष्टि से अत्यन्त सफल रचना है। संयोग और वियोग को गीतकार क्षेम प्रेम-प्रणय के दो अनिवार्य पंख माने हैं। संध्या और उषा निशा की दो आँखें हैं, किसे वह हेय कहे और किसे श्रेय, उसी प्रकार प्रेम की भूमि में संयोग और मिलन दोनों ही वरेण्य एवं स्वीकार्य हैं; बिना दोनों के प्रेम अपूर्ण है। कुछ प्रशंसकों ने क्षेम जी को मिलन के गायकों में बड़ा ऊँचा स्थान दिया है, जो सर्वथा उचित है। वियोग की अनुभूति तीव्रतर होती है और संयोग की कोमलता। संयोग के चित्रण में गीतकार अश्लीलता और असंयम की तलवार-धार पर से चलता है। क्षेमजी के मिलन-गीत इस दृष्टि से बड़े ही अनुभूति-सम्पन्न, भाव-विमल, कल्पना-मसृण एवं सुश्लील हैं। कवि ने अनुभूति एवं स्थिति के प्राण को छू दिया है, पर अनुभूति एवं अभिव्यक्ति में कहीं भी संयम और श्लीलता की छाँह नहीं हटी है। मिलन के ये चित्र दर्शनीय हैं—

"नयन में नयन की छाया,
अधर पर हास अलसाया;
परों पर भावना के झूमती
यह स्वप्न-सी काया
प्रिये, यह यामिनी रस-स्नात, तुम जानो कि मैं जानूँ।" —('जीवन-तरी')

× × ×

'सलज-सजल यह दीप कि जिसमें सिमट रहा
लघु स्मृति का झलमल;
मदिर-मदिर यह रात कि जिस पर अलसाया
नयनों का काजल !
अलस सोरही पाशों में रस की रिमझिम बरसात,
अनंगिनि, आज मिलन की रात !
सुहागिनि आज मिलन की रात !

—(जीवन-तरी)

"धूम में मुँह छिपाए रही दीपिका, रूप फिर-फिर कुमुदिनी सजाती रही;
रात भर चाँद का मुख मुरझता रहा, रात भर तारिकाएँ लजाती रहीं !
रात भर एक माथा दमकता रहा, एक तारा चमकता रहा रात भर !
रात भर चाँदनी गीत गाती रही, बाँह पर चाँद हसता रहा रात भर !"

('मुक्त कुन्तला' से)

यह शृंगार अपने अनुभूति-लोक में ही पाठक को परितृप्त कर देने वाला है, प्रज्ज्वालक या प्रोत्तेजक नहीं ! शृंगार और प्रेम के इस तन्मय गायक ने अपने गीतों में प्रीति-प्रणय का एक मोहक एवं रंग-मय संसार बसाया है, जहाँ आग या निराशा की अमा नहीं, तृप्ति, आशा और आस्था का प्रसन्न आलोक मुस्करा रहा है। यहाँ वियोग में भी एक मिठास है, वेदना में आस्था और प्यास में तृप्ति का-सा संयम ! इनमें सुखमय गृह का विश्वास-पूर्ण वातावरण है, वीथियों की प्यास-भरी पुकार नहीं। प्रेम और शृंगार की यह रंगिमा जीवन-परिसाधक, एवं गृह-प्रसाधक होकर बरसी है, जो कल्पना-क्यारियों को सींचती है; मर्यादा-मेड़ों को तोड़ती नहीं, वरन् उन्हें जीर्णोद्धृत करती है।

प्रो० क्षेम के गीतों की दूसरी प्रमुख विशेषता है उनका चिन्तन, अनुशीलन एवं परिशीलन। उनके गीतों में भाव-प्रसार एवं अनुभूति-आरोह में एक क्रम पाया जाता है। भावानुभूतियाँ सघनतर होती हुई अन्तिम चरणों में चिन्तन-दर्शन की एक सहज-भूमिका पर जगमगा उठती हैं। गीतों का अन्तिम चरण सम्पूर्ण भाव-प्रवेग, कल्पना-प्रसार और चिन्तन-मनन का निष्कर्ष लेकर सूक्तियों की भाँति सशक्त और प्रोज्ज्वल बन जाती है—

"हर निशानी में तुम्हारी ही निशानी,
हर रवानी में तुम्हारी ही रवानी,
काल कहता जाय प्रिय सुनता रहूँ मैं
हर कहानी में तुम्हारी ही कहानी !

तुम पुकारो हर पलक के प्यार से !
मैं बहूँ हर नयन की जलधार से !!"

('जीवन-तरी' से)

'क्षेम' जी के 'संघर्ष-तरी' के गीत अगीतात्मक तथ्यों को भी गीत के आभोग में रस-मय बनाते दिखलाई पड़ते हैं। कवि ने 'नीलम, ज्योति और संघर्ष' की भूमिका में बड़ी विशदता एवं विद्वत्ता के साथ अपनी गीतात्मक प्रवृत्तियों एवं प्रयासों का प्रतिस्थापन किया है। 'गा रहा हूँ और गाती आ रही है जिन्दगी' प्रतीक वाला गीत जीवन के विषय रूपों के संतोलक मर्म को भी बड़ी सुन्दरता से व्याख्यात और विन्यस्त करता है। 'किसान का गीत', 'धरती का गीत' और 'गाँव का गीत' इसके सुन्दर उदाहरण हैं। 'गाँव के गीत' में ग्रामो की शोभा, पनघटों, बुआई, चराई, कजली, बरखा, श्रम की मटियारी चादर से लिपटे किसान और उसके गीत-रुदन का बड़ा मार्मिक चित्र गीत-मुखर हुआ है। 'धरती का गीत' में मानव और उसकी आस्था का सुन्दर अभिव्यंजन है—

"आ सके मधुयामिनी, फिर आ सके पूनम सुपावन,
और पतझर की रगों में बह सके पंचम सुहावन;
शुष्कपलकों में गगन के छा सके घन काजलों के—
और प्यासे भूमि-पाशों से बँधी मद सावन !
सृष्टि के निर्माण का इतिहास रुक जाये नहीं,
इसलिए आँधी उड़ाती आ रही है जिन्दगी।"

('नीलम, ज्योति और संघर्ष' से)

कवि ने गीतों के प्रति अपनी अटूट आस्था 'ये मेरे गीत' एवं 'ये गीत सबके स्वर' नामक रचनाओं में अत्यन्त मार्मिकता के साथ व्यक्त किया है। गीत के जन्म की मनोरम कल्पना देखिए—

"धरा अलसित, गगन रसमस, जभी बदली उठी होगी,
तभी धानी प्रकृति के कंठ से कजली उठी होगी !
बहा होगा कुँवारे होठ से खलिहान का बिरहा,
लिये जब चाँदनी को चाँद की बहली चली होगी !!
हिया का दोल है इनमें न छीनो गीत ये मेरे।
न छीनो गीत ये मुझसे, न छीनो गीत ये मेरे ॥"

('वही')

गीतों के अभाव में जीवन का जो रूप होगा, उसका चित्र भी दर्शनीय है—

"न उर में भावना होगी, न मन में चाहना होगी,
न होंगे गीत तो कैसे सुहागन साधना होगी ?
न होठों से उठेगी भाव की रस-भींजती पूजा—
न तब आराध्य ही होगा, न फिर आराधना होगी ? !
हमें नव साधना देने स्वरों में गीत आते भर !
हमारे हो अकेले के नहीं, ये गीत सबके स्वर !"

('वही')

'संघर्ष-तरी' में जहाँ कवि ने जीवन-यथार्थों और वस्तु-परक तथ्यों को गीतायित करने का सफल प्रयास किया है, वहीं लोक-भाषा से कुछ ऐसे नये और अर्थपूर्ण शब्दों को भी अपनाया है, जो उर्दू के शब्दों की अपेक्षा अधिक लोक-निकट तथा तद्भव-रूप होने से मधुर भी हैं। माटी, उजियारा, अँधियारा, निदियारे, निदारे, मटियारे, उजाले आदि शब्द-रूप इनके उदाहरण हैं।

प्रो० क्षेम की गीत-साधना निरन्तर प्रवहमान है। उनमें रूप एवं वस्तु, दोनों ही दृष्टियों में विस्तार-विकास होता गया है। डा० शम्भूनाथ सिंह ने 'नयी कविता' का ध्वज भी उठा लिया, पर श्री क्षेम की सर्जनात्मिका गीत-आस्था अटूट रूप से प्रगतिमान रही है जो आज पिछले २२ वर्षों से गाती आ रही है। उनकी गीतात्मप्रतिभा को देखकर ही १०–१२ वर्ष पूर्व उन्हें अनेक साहित्यकारों ने 'गीतों के राजकुमार' की उपाधि दी थी। हिन्दी-गीत प्रेमियों की यह आशा असफल नहीं हुई। 'क्षेम' जी आज भी मुक्तक, मुक्त-गीत (ग़ज़ल) और मुक्तछन्द लिखते हुए भी अनवरत सास्थ रूप में गीतों की रचना करते जा रहे हैं। 'जीवन-तरी', 'नीलम, ज्योति और संघर्ष' तथा 'मुक्त कुन्तला' उनके कविता-संकलन हैं। वे छायावादी आलोचकों में भी आदर के साथ परिगणित हैं। नये गीतों में 'एक पल का गीत' और 'कहानी अपने देश की' नामक गीत बड़े लोकप्रिय हुए हैं।

स्वच्छन्दतावादी गीतकारों में प्रो० क्षेम ही एक ऐसे गीतकार रहे हैं जो काव्य रूपों में उत्तरोत्तर होने वाले नवीन प्रयोगों से अपेक्षाकृत अपने को बचा सके हैं। इधर की कुछ कविताओं में उनका भी स्वर बदला है, पर लगता है उन्होंने अपनी शक्ति का परिचय देने के निमित्त ही ऐसा किया है।

विकास-क्रम

प्रथम उत्थान

स्वच्छन्दतावादी काव्य धारा के प्रथमोत्थान का आरम्भ पं० श्रीधर पाठक से ही मानना चाहिये जैसा की पूर्व में ही इस ग्रन्थ में संकेत कर दिया गया है। पं० रामनरेश जी त्रिपाठी की प्रकृति सम्बन्धी रचनायें भी इस श्रेणी में रखी जा सकती हैं। आगे चलकर इस विचार धारा को गीत काव्य की भूमि मिली तो इसमें अद्भुत विकास हुआ। विकसित काव्य के प्रमुख कवियों का मूल्यांकन स्वतन्त्र रूप से पुस्तक में कर दिया गया है। गीत काव्य के साथ 'महादेवी जी' तथा डा० रामकुमार वर्मा के नाम इस प्रकार लगे हुये हैं कि उन्हें अलग कर के सोचा ही नहीं जा सकता। काव्य की जिस प्रवृत्ति को लोगों ने रहस्यवाद के नाम से पुकारना आरम्भ कर दिया था उसके उन्नायकों में येही दो कवि प्रमुख हैं जिससे दोनों की व्याख्या आवश्यक थी। 'बच्चन' 'शम्भूनाथ सिंह' तथा 'क्षेम' क्रमशः द्वितीय और तृतीय उत्थान के कवि हैं पर प्रमुख कवियों के साथ इनकी चर्चा साभिप्राय करनी पड़ी है। प्रत्येक उत्थान के सभी प्रमुख कवियों की चर्चा के लिये पुस्तक में अवकाश न रहने के कारण प्रतिनिधि कवि की चर्चा करके सन्तोष करना पड़ा है। 'बच्चन' द्वितीय उत्थान के सर्वाधिक लोकप्रिय कवि हैं, शम्भूनाथ सिंह तृतीय उत्थान के उन्नायकों में से एक हैं और 'क्षेम' को स्वच्छन्दतावादी गीत परम्परा का वह अन्तिम गीत-कार माना जा सकता है जो तृतीय उत्थान में किये जाने वाले काव्य-प्रयोगों से अन्य कवियों की तुलना में सब से कम प्रभावित हुये हैं। इस प्रकार प्रमुख कवियों के रूप में ऐसे ही कवियों की विवेचना प्रस्तुत की गई है जिससे कि स्वच्छन्दतावादी काव्य धारा के क्रमिक विकास को समझने में असुविधा न हो। प्रथम उत्थान में कुछ ऐसे कवियों के भी दर्शन हुये थे जिनमें स्वच्छन्दता-वादी काव्य की विशेषतायें स्वस्थ रूप में विद्यमान थीं पर वे प्रबन्धात्मकता की ओर झुके रहने के कारण स्वच्छन्दतावादी काव्य-प्रवाह के किनारे-किनारे ही चलते रहे और तृतीय उत्थानकाल में आकर पुनः अपनी रोमानी भावनाओं के साथ प्रकट हो गये जिसमें गुरुभक्त सिंह 'भक्त' का नाम प्रमुख है।

गुरु भक्तसिंह 'भक्त'

श्री गुरु भक्तसिंह जी 'भक्त' का प्रवेश काव्य जगत में निराला और पन्त के साथ ही होता है किन्तु उनकी प्रथम कविता पुस्तक 'पन्त' के 'पल्लव' के

बाद प्रकाशित हुई। भक्त जी के काव्य का दृष्टिकोण आध्यात्मिक पृष्ठिभूमि और रहस्यात्मक अनुभूतियों से दूर मानववादी ही है। कवि ने उस समय जब कि पन्त और निराला अपनी आध्यात्मिक और प्रकृति-परक रहस्यात्मक रचनाये कर रहे थे, शुद्ध रूप से प्रकृति और मानव अनुभूतियों को अपना काव्य विषय बनाया था। इस दृष्टि से कदाचित 'भक्त' जी पर बहुत कम विचार हुआ और अपने समय में उन्हें आरम्भ में जो सम्मान मिला उसकी ऐतिहासिकता को नवीन आलोचना भूलती-सी जा रही है। वास्तव में प्रचार और प्रदर्शन से दूर रहने वाले इस सच्चे मानववादी कवि ने एकान्त भाव से काव्य सर्जन को ही अपना लक्ष्य बनाया; दल, वर्ग और शिविरों से अलग प्रेम और सौंदर्य के गायक इस कवि ने सभा मञ्चों और गद्य रचनाओं में कुछ न कहकर अपने अरबी, फारसी, इतिहास और संस्कृत काव्यों के विस्तृत और गम्भीर अध्ययन को कवि की व्यापक और मानवीय सहानुभूति देते हुए जो कुछ कहा केवल कवि रूप में ही। आरम्भ में कविवर पं० अयोध्या प्रसाद उपाध्याय 'हरिऔध', आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा० भगवतशरण उपाध्याय पं० अमरनाथ झा आदि द्वारा लिखे गये प्रसंशात्मक निबन्ध 'भक्त' जी की लोकप्रियता और काव्यगत नवीनता के परिचायक रहे हैं। स्वयं निराला जी ने भी भक्त जी पर एक प्रसंशात्मक लेख लिखा था। डा० भगवतशरण उपाध्याय ने तो सम्पूर्ण 'नूरजहाँ' की एक व्याख्यात्मक आलोचना ही लिख डाली है। स्वच्छन्दतावादी कवियों की भाँति इनके काव्य का प्रारम्भ भी स्फुट कविताओं के रूप में हुआ।

सरसुमन, कुसुम-कुञ्ज, वंशीध्वनि और वनश्री उनके स्फुट काव्य संकलन हैं। प्रकृति के सामान्य रूप पर वर्डस्वर्थ की भाँति रीझने वाले इस कवि ने हिन्दी काव्य साहित्य में प्रकृति वर्णन की एक नवीन परम्परा ही चलायी। पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी जी के शब्दों में न उन्होंने किसी का अनुगमन किया और न कोई उनका अनुगमन कर सका। वैज्ञानिक दृष्टि से यह भक्त जी की स्वच्छन्दतावादी कवि के विषय में एक विशिष्ट तथ्य है। न इस कवि ने किसी परम्परा के सूत्र के सहारे पदार्पण किया और न एक व्यापक जीवन दृष्टि और विषय-विस्तार के अलावा किसी स्थूल परम्परा के स्थापित करने की चिन्ता ही की। वर्डस्वर्थ ने प्रकृति में एक स्वतंत्र आत्मा का दर्शन किया था और प्रकृति के प्रति वह एक धार्मिक विश्वास की तीव्र भावना से देखता था, किन्तु भक्त जी ने ऐसा नहीं किया। अपने भावातिरेक में वे वर्डस्वर्थ की भाँति इस सीमान्त तक नहीं जा सके। एक प्रकृति प्रेमी

कवि की प्रकृति के सहज रूप के साथ जितनी सहज रागात्मक एवं मानवीय संवेदना हो सकती है, भक्त जी का प्रकृति प्रेम उस भूमि पर पल्लवित और प्रसरित हुआ है। अनेक प्रकार की घासों, चिड़ियों और पौधों का उन्हें अत्यन्त सूक्ष्म परिचय था। कहीं-कहीं उनका यह परिचय नाम गणना की लम्बी सूचियों में प्रकट हो गया है किन्तु अधिकांश स्थलों पर जहाँ वह काव्य संतुलन को नहीं भूल सके हैं रचना बड़ी मार्मिक और हृदयस्पर्शी हुई है। नगरों के जीवन से दूर ग्रामों, उसमें चारागाहों, नदी के कछारों और वनों की प्राकृतिक विविधता भक्त जी के काव्य में बड़ी ताजगी के साथ प्रस्तुत हुई है। इसीलिये आचार्य शुक्ल जी ने "अर्थ भूमि के संकोच', "बँधी लकीर के बादों" एवं "प्रेम गान की परिपाटी" से आगे बढ़कर "प्रकृति प्रांगण के सचराचर प्राणियों के राग पूर्ण परिचय" विविध विषयो पर "आत्मीयता व्यञ्जक दृष्टिपात" एवं "सुख-दुःख में उनके साहचर्य की भावना को" विकास देने वाले तत्कालीन कवियों में भक्त जी को गौरव के साथ स्मरण किया है।

'नूरजहाँ' का कवि हठीली-सलोनी भोली बालिका के रूप पर ऐसा रीझा कि अपनी वैयक्तिक अनुभूतियों की गहराई में उतर कर भी उसे न भूल सका। प्रकृति के मनोरम वातावरण में कोयल की कूक के साथ ही किसी के साहचर्य के कारण कविके हृदय में भी अप्रकट हूक उठी थी जो अभाव जन्य स्मृति के कारण सस्वर कविता की वाणी में फूट पडी—

फिर बोल उठी कोयल कू! कू!
फिर बोल उठी कोयल कू! कू!
दिन थे हम दोनों होड़ लगा पंचम के स्वर में गाते थे।
दे मींड़ सरित की लहरों पर तारों से तार मिलाते थे॥
हम भी रसाल के डालों पर चढ़ आमों में छिप जाते थे।
हम तेरे आम चुराये बिन ही चोर बनाये जाते थे॥
तू दाँव न देकर चली गयी जब गयी हमारे हाथों छू।
फिर बोल उठी कोयल कू! कू? फिर..... ॥

× × × ×

जब चातक प्यासा चिल्लाता फूलों में ओस टपकती थी।
सरिता जलमें जुग-जुग करते तारों की ज्योति चमकती थी॥
बिरहाकुल की गीत बरबस ही बढ़ती थी कभी ठमकती थी।
आशा के स्वप्नों में विभोर जब मेरी आँख झपकती थी॥

अंगुली के बल आ दबेपाँव तब नयन किसी के पड़ते चू।
फिर बोल उठी कोयल कू ! कू ! फिर ..... ॥

वेदना मय भावों की तीव्रता, स्मृति का वेग, सहज एवं स्वभाविक चित्रांकन तथा प्रकृति के अतीत-वर्तमान भावात्मक एवं स्थूल मनहारी दृश्यों का जो समन्वित रूप 'भक्त जी' की एक ही कविता में सम्भव हो सका है उससे उनकी लेखनी की शक्ति का परिचय मिल जाता है। प्रत्यक्ष को सामने रखकर अप्रत्यक्ष की ओर देखना तथा वर्तमान के साथ ही साथ समानधर्मी चित्रों को स्मृति के माध्यम से चित्रित करते जाना 'भक्त जी' की अपनी विशेषता है। सूक्ष्म और स्थूल का यह समन्वय ऐसा ही मोहक है जैसा कि लहरों पर का तैरता हुआ संगीत 'शरदपूनो' शीर्षक का एक अंश कथन की सत्यता को प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त है—

आज है शरदपूर्णिमा रात।
आज है शरदपूर्णिमा रात !
डूब गया राधा के संग में श्याम गगन का गात।
श्याम सलोना कृष्ण अम्बुनिधि रसमय मधुबन करके ॥
निज हिय में उतार नभ-शशि को मृदुल अङ्क भर के।
विविध रूप धर लोललहर में शशि किरणों संग नचता ॥
स्वर वंशी पर हृदय-ताल पर आज रास है चलता।
रास देख यह याद आ गई कोई भूली बात ॥
आज है शरद पूर्णिमा रात।

बिम्ब ग्रहण की अद्भुत क्षमता 'भक्त जी' को मिली है जिसके लिये न तो उन्होंने काव्य के विहित सिद्धान्तों का अनुसरण किया है और न तो शब्दजाल के निर्माण का द्रविण प्राणायाम ही ! 'भक्त' जी मूलत: 'प्रकृति' के कवि हैं क्योंकि उनका मानवीय प्यार भी तो उसी की गोद में उत्फुल्ल हो पाता है। 'पंत जी' की प्रकृति और 'बाले तेरे केशजाल' विषयक द्विविधा को 'भक्त जी' के यहाँ स्थान नहीं क्योंकि वे प्रकृति को सर्वोपरि समझते हैं और सबको प्रकृति सुषमा को दिल खोलकर अंकस्थ करने का सन्देश देते हैं। 'मधुऋतु' नामक अपनी कविता मैं उन्होंने धरती की उमंग और सुन्दरता का आलम्बन रूप में तो चित्रण किया ही है साथ ही साथ मानवजीवन पर उसके पड़ने वाले प्रभावों का भी सजीव-भावुकतापूर्ण वर्णन किया सै। कवि का विश्वास है कि कुसंस्कार जन्य सामाजिक दुराव-छिपाव को मिटाकर स्वस्थ एवं सुखद जीवन का निर्माण यदि कहीं हो सकता है तो प्रकृति की गोद में ही—

मिलो सब तोड़कर बंधन यही तो प्यार के दिन हैं।
रसवंती ने करवट बदली- मधुऋतु हँसती आयी॥
स्नेह भरे दीपक की बत्ती हिमकर ने उकसायी।
सकुच लाज लघु सीमा तजकर संयम से टकराया॥
पोर-पोर रस भरी ऊख अब, नव यौवन गदराया।
इन्हीं खेतों की दुनियाँ में चलो, अभिसार के दिन हैं॥
मिलो सब तोड़कर बंधन यही तो प्यार के दिन हैं।

× × × ×

आज मांगलो हम से सब कुछ तन मन धन दे डालूँ।
जो कुछ भी मैं करूँ याचना, चुपके से मैं पालूँ॥
युग की स्वतंत्रता कहती बंधन सारे तोड़ो।
सरिता की बहती बाहों को, कूल बाँह में मोड़ो॥
यही दिन हैं समर्पण के हृदय की हार के दिन हैं।
मिलो सब तोड़ कर बंधन यही तो प्यार के दिन हैं॥

"विस्तृत अर्थ भूमि पर स्वाभाविक स्वच्छन्दता का मर्म पथ ग्रहण कर चलने वाले कवियों में भक्त जी का एक ऐतिहासिक महत्व है।

'भक्त' जी की भावधारा में एक अंगूरी मादकता है। स्वच्छन्द आवेग अपनी सहज उष्मा के साथ उनकी कविताओं में अभिव्यक्त हुए हैं। इस सहज भाव विस्तार में कहीं भी दर्शन और विचार रूढ़ियों की गाँठी नहीं है। समस्त भाव विस्तार के पीछे कवि का एक फरकता हुआ स्वच्छन्द व्यक्तित्व विद्यमान है।

द्वितीय उत्थान

स्वच्छन्दतावाद के द्वितीय उत्थान के कवियों में श्री भगवतीचरण वर्मा, 'बच्चन' और नरेन्द्र शर्मा के नाम प्रमुख हैं। इन कवियों ने स्वच्छन्दतावाद के प्रथम 'उत्थान के कवियों में आये हुए रहस्यात्मक तत्व और स्पष्ट भाव वर्णन के विरुद्ध एक विद्रोह किया था। इन्होंने मानव सुलभ भावों और तीव्र अनुभूतियों को उन्मुक्त रूप से अपने काव्य में स्थान दिया। मानव का प्रेम और उसकी वासना भी निःसंकोच भाव से इनकी कविताओं में प्रकट हुई। नारी के प्रति सहज आकर्षण को इन्होंने लज्जा, गोपन अथवा सुसंस्कृत बनाकर व्यक्त करने की प्रणाली से भिन्न स्वच्छन्द रूप में किया। इसीलिये

इनके प्रेम में अशरीरी वायवीयता और सूक्ष्म कल्पना के स्थान पर मांसलता तथा शारीरिकता की प्रधानता भी है। भगवतीचरण वर्मा की वे कवितायें जिनमें उन्होंने वियोगावस्था का वर्णन किया है, मानवीयता की भूमि पर अत्यन्त मार्मिक और विषादमय हैं—

होठों पर नाच रहा था
मेरे वैभव का प्याला;
मैं बना हुआ था साकी,
मैं ही था पीने वाला;
कोई कहता था विष है,
कोई कहता था हाला;
मैं हँसता था मस्ती में
मेरा था रंग निराला

(प्रेम संगीत)

अन्य स्वच्छन्दतावादी कवियों की भाँति 'वर्माजी' ने भी प्रकृति को प्रत्येक क्षण की सहचरी बना ली है—

देखो वियोग की शिशिर रात
दिन का रक्तांचल छोड़ चली।
ज्योत्स्ना की वह ठंडी उदास।
आँसू का हिम जल छोड़ चली॥

(प्रेम सगीत)

प्रकृति कवि के जीवन में इस प्रकार घुल मिल गई है कि प्रकृति के स्थूल-सूक्ष्म उपकरण उसकी अभिव्यक्ति के माध्यम बन गये हैं। इसके अतिरिक्त 'वर्माजी' की कविताओं में कहीं-कहीं ऐन्द्रिकता और अश्लीलता के वर्णन भी मिल जाते हैं—

यह तनमयता की बेला है
यह है संयोग की रात प्रिये!
अधरों से कहलें आज अधर
जी भर कर अपनी बात प्रिये!
सुख से सुरभित इन श्वासों में
कितना मधुमय उच्छ्वास भरा!

इन अलस अधखुली आँखों में
कितना मादक उल्लास भरा
प्राणों का होगा आज मिलन,
कम्पित है पुलकित गात प्रिये !
तुम सम्मोहिनि, मैं विसुध स्वप्न,
यह है संयोग की रात प्रिये !

मनोवेग की तीव्रता के साथ-साथ कवि का शील और संयम भी बिगड़ता गया है और अन्त तक पहुँचते-पहुँचते वह अश्लीलता के निकट होकर चलने लग जाता है—

तुम आदि प्रकृति, मैं आदि पुरुष,
निशि-बेला शून्य अथाह प्रिये !
तुम रतिरत, मैं मनसिज सकाम,
यह अन्धकार है चाह प्रिये !
हम-तुम मिलकर चलो सृजें
सुख का अपना संसार यहाँ;
क्रीड़ा के शत-शत रंगों में
हो अपना ही अभिसार यहाँ !
ढकले पृथ्वी, ढकले अम्बर
जीवन का मुक्त प्रवाह प्रिये !
तुम अक्षय छवि, मैं अमिट साध
यह अन्धकार है चाह प्रिये !

नरेन्द्र शर्मा भाषा के क्षेत्र में सुमित्रानन्दन पन्त के अनुयायी होते हुये भी भावों के क्षेत्र में 'पन्त' से अधिक स्पष्ट मानवीय और मांसल हैं। 'कर्णफूल', 'प्रवासी के गीत', 'प्रभात फेरी' आदि संकलनों की रचनायें जहाँ एक ओर रहस्यात्मक सूक्ष्मता से भिन्न हैं वहीं दूसरी ओर नारी के सौंदर्य के प्रति सजग, संवेदनशील ऐंद्रिक भी—

प्रिये अभी मधुराधर चुम्बन गात-गात गूँथे आलिंगन।
सुने अभी अभिलाषी अन्तर मृदुलरोजों का मृदुकंपन ॥

(प्रभात फेरी)

नारी सौंदर्य की स्थूलता के प्रति आग्रह तो नरेन्द्र शर्मा की कविताओं में मिलता है पर उनमें उद्दाम वासना के उद्भूत पौरुष की उतनी छटपटाहट नहीं जितनी कि निराशा, हाहाकार और परवशता है—

आयगा मधु मास फिर भी,
आयगी श्यामल घटा घिर !
आँख भर कर देखलो,
यह मैं न आऊँगा कभी फिर !!
प्राण तन से बिछड़कर कैसे मिलेंगे !
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे !!

× × ×

'कब मिलेंगे ?' पूछता जब विश्व से मैं विरह कातर,
'कब मिलेंगे' ? गूँजते प्रतिध्वनि-निनादित व्योमसागर,
कब मिलेंगे ? प्रश्न, उत्तर 'कब मिलेंगे ?'
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे ? (प्रवासी के गीत)

संध्याकालीन परिवर्तन के कारण प्रकृति जैसा रूप धारण करती है उसका एक सजीव चित्र 'शर्मा जी' ने तो खींचा ही है, साथ ही साथ उन्होंने विरही की अनुभूतियों की साकार प्रतिमा के रूप में भी उसे देखा है। भावों के माध्यम से विराट चित्रों के निर्माण में द्वितीय उत्थान के कवियों में नरेन्द्र शर्मा को अपेक्षाकृत सफलता अधिक मिली है—

साँझ होते ही न जाने छा गई कैसी उदासी ?
क्या किसी की याद आई, ओ विरह व्याकुल प्रवासी ?

× × ×

जल प्रिया की याद में जल, चिर-लगन बनकर प्रवासी !
स्नेह की बन ज्योति जगमें, दूर कर उर की उदासी !
(प्रवासी के गीत)

रहस्यात्मकता से प्रभावित होकर जब 'शर्मा जी' चाँदनी को देखते हैं तो उनके मन में एक जिज्ञासा उत्पन्न होती है, वे अनुभव करते हैं कि विराट सत्ता का अप्रकट सौंदर्य ही आज चाँदनी में बिखर पड़ा है, पर उनका यह भाव अधिक देर तक नहीं टिक पाता और उनमें वे किसी के दृगों को याद करने लग जाते हैं जिसके बिछोह का दुख उन्हें सहन करना पड़ रहा है—

बिम्ब किसका, ज्योति किसकी, आज रवि के शशि मुकुर में !
बहुत दिन के बाद फिर आह्लाद कवि के मौन सुर में !
कौन-सी सम्मोहिनी, जिससे धरा चुपचाप सुनती—
आज छन-छन आ रही जो जीर्ण तरु-से भग्न उर में ?

× × ×

उन दृगों की याद क्यों आई मुझे इस चाँदनी में ?
थी कभी सुख-शान्ति जो, वह अब नहीं इस चाँदनी में
विवशता की याद आई, लपट उट्ठी धुआँ उमड़ा,
आज जग में चाँदनी है, मैं नहीं पर चाँदनी में !
(प्रवासी के गीत)

इस प्रकार ऐहिक सौंदर्य की तीव्रानुभूति के कारण कवि प्राकृतिक सुषमा में भाव विभोर नहीं होने पाता। यहीं आकर नरेन्द्र शर्मा की अभिव्यक्ति 'पंत' से अधिक स्पष्ट और ऐहिक हो जाती है।

तृतीय उत्थान

इसका संकेत ऊपर किया जा चुका है कि स्वच्छन्दतावादी काव्य की छायावाद एक प्रमुख प्रवृत्ति है। 'द्विवेदी'-युगीन स्थूल वस्तु-वत्ता, गद्यात्मक, बाह्यात्मकता और रुक्ष नितिमत्ता के विरुद्ध आधुनिक युग में जो स्वच्छन्दतावादी चेतना प्रोद्भासित हुई, हिन्दी-साहित्य में उसे छायावाद का नाम प्रदान किया गया। इस काव्य की अति सूक्ष्मता, आभ्यान्तरिकता एवं उपचार-वक्रता ने उस समय के पाठकों को जिस छायात्मकता की अनुभूति का आभास दिया, उसने ही इस काव्य प्रवृत्ति के छायावाद नाम को चरितार्थता प्रदान की थी। यही सूक्ष्मता गहनतर होकर रहस्यवाद के आध्यात्मिक स्तर तक पहुँची, श्रीमती महादेवी वर्मा एवं डा० रामकुमार वर्मा, जिसके ज्वलंत प्रतीक हैं। इस काव्य-धारा के भीतर निहित लौकिक एवं मानववादी तत्व ने वर्माद्वय के बाद श्री भगवतीचरण वर्मा 'बचन' एवं नरेन्द्र शर्मा के काव्यों के रूप में अभिव्यक्ति पाई, किन्तु इन कवियों के भीतर छायावादी सकुल सूक्ष्मता के विरुद्ध एक प्रबल प्रक्रिया का भाव भी था, अतः ये कवि सूक्ष्मता के दूसरे छोर स्थूलता, नग्नता एवं अतिप्रत्यक्षता तक खिंच आये। अति सूक्ष्मता एवं अतिप्रत्यक्षता के इन दोनों छोरों के बीच हिन्दी-खड़ी बोली-गीत-धारा की एक संतुलित एवं सहज अभिव्यक्ति प्रकट हुई, जिसे 'छायावाद के तृतीय उत्थान' का नाम दिया गया है,[1] किन्तु मैं इसे 'छायावादोत्तर' मानवादी गीत-धारा' का नाम देना अधिक उपयुक्त समझता हूँ क्योंकि यह धारा छायावाद का क्षयकालीय रूप नहीं, उसका एक सहज संतुलित अग्र-विकास है। इस गीत-धारा के उन्नायकों में श्री शम्भू-

१—छायावाद की काव्य साधना— प्रो० क्षेम—पृ० सं०

नाथ सिंह' कविवर 'नेपाली' एवं प्रो० 'क्षेम' प्रमुख हैं। इन्हीं लोगों के साथ एक ओर जानकीवल्लभ शास्त्री एवं हंसकुमार तिवारी तथा दूसरी ओर सर्व श्री गिरधर गोपाल, रमानाथ अवस्थी एवं 'नीरज' आदि भी हैं। श्री 'शास्त्री' जी में 'रवीन्द्र' एवं 'निराला' का सूक्ष्म संगुम्फन अपेक्षाकृत अधिक है और गिरधर गोपाल, अवस्थी एवं नीरज में 'बच्चन' के काव्य के क्रमशः ज्वलन-वादी सुख-वादी एवं मरणवादी तत्वों का प्राधान्य है। इसी दृष्टि से इन पंक्तियों के लेखक ने 'छायावादोत्तर मानववादी गीत-धारा' के प्रमुख प्रतिनिधि के रूप में मुख्यतः तीन प्रतिनिधि कवियों की चर्चा ऊपर की है, जिनके गीतों की समुचित व्याख्या कर लेने से इस काल की सभी प्रमुख एवं जीवन्त प्रवृत्तियों का निदर्शन हो जायेगा। स्वच्छन्दता वादी काव्यधार के प्रथमोत्थान के कवियों के अन्तिम चरण काव्य में चले आते विभिन्न वादों के बोझिल तत्वो के कारण डगमगाने लगे और उनमें परिवर्तन इतनी तेजी से उपस्थित होने लगे कि उनके एक निश्चित स्वरूप की परख रखना अत्यन्त कठिन हो गया। काव्य-धारा के पीछे सामाजिक और राजनीतिक चेतना जो शक्ति के रूप में स्पन्दित रहती है, उसके कारण ही सामाजिक और राजनीतिक विश्वासों के परिवर्तन के साथ-साथ काव्य-विषयों एवं रूपों में भी परिवर्तन होता रहता है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व का राष्ट्रीय आन्दोलन विदेशी शक्तियों से लोहा लेने की दिशा में केन्द्रीभूत हो गया था और देश की अधिकांश जनता एकोन्मुख होकर एक ही लक्ष्य की ओर बढ़ी जा रही थी, पर स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् की स्थिति वैसी नहीं रह पायी और वैसा रहना सम्भव भी नहीं था क्योंकि अब त्याग का प्रश्न नहीं बल्कि भोग का सवाल था जो थोड़े लोगों के बीच सुलझी हुई प्रश्नावली बनकर रह गया था। नव-निर्माण का एक नया राजनीतिक नारा अवश्य सामने आया पर उसके सम्बन्ध में सभी एकमत नहीं हो सकते थे। शासक वर्ग ने उसे अपनी ढाल और विरोधियों ने उसे तलवार के रूप में ग्रहण किया। अब इसकी उपयोगिता का निर्णय करना जनता अथवा तटस्थ लोगों पर आ पड़ा था जिसके कान दलगत प्रचारों से भरे जा रहे थे जिसमें साहित्यकार पीछे नहीं रहे। जिस प्रकार असंतुष्ट कांग्रेसी समाजवादी, प्रजासमाजवादी तथा साम्यवादी पार्टियों में चले आये उसी प्रकार स्वच्छन्दतावादी कविगण भी समय की मांग के साथ साथ प्रगतिवादी, प्रयोगवादी तथा नयी कविता के नाम से चल पड़ी काव्य-धारा की ओर टूटते गये। कुछ ऐसे कवि भी मिल जायँगे जिन्होंने काव्य की लम्बी उम्र पायी है और वे उसके बदलते हुये मूल्यों के साथ स्वयं भी बदलते गये हैं। उदाहरण स्वरूप श्री सुमित्रानन्दन पंत का नाम लिया

जा सकता है। इस प्रकार साहित्यिक वादों का ऐसा घाल-मेल मँचा कि सहसा कविताओं का वर्गीकरण कर पाना कठिन हो गया। इस प्रकार तृतीय उत्थान में आकर प्रयोगों की धूम मच गयी और हम देखते हैं कि एक निश्चित काव्य परम्परा खड़ी भी नहीं हो पाई कि दूसरी ने उसका गला दबाकर उठ खड़ी होने की चेष्टा की। द्वितीयउत्थान प्रौढ़ता की ओर बढ़ ही रहा था कि प्रगतिवाद ने उसे धर दबाया क्योंकि प्रथम उत्थान की कोमलता में ही उसके अंकुर कठोर हो चुके थे और वह भी पूर्ण रूपेण जवान नहीं होने पाया था कि प्रयोगवाद आ धमका। प्रयोगवाद कूड़ा-कर्कट इकट्ठा करके हरियाली का स्वप्न देखने का उपक्रम ही कर रहा था कि अनुकूल भूमि पाकर नयी कविता का एक स्रोत बह निकला जिसमें अपेक्षाकृत स्वच्छन्दता के भाव उग्र रूप में वर्तमान थे, यद्यपि बौद्धिकता की इसमें भी कमी नहीं थी। जिस प्रकार अभागा पिता जीवन काल में ही पुत्र शोक को निरुपायता में सहन करता ही है उसी प्रकार इन कवियों और उनके समर्थकों ने भी अपने जीवन काल में ही अपनी प्रचारित कविताओं का निर्वाण हृदय थाम कर देखा है। इन विभिन्न वादों की शक्ति और उपयोगिता का निर्णय समय ने ही कर दिया। काव्य सौंदर्य की स्थिरता और अस्थिरता का सच्चा निर्णायक काल ही होता है।

पिछले दो दशकों से जो कविता के पैर टिकने नहीं पा रहे हैं और वह अपने स्थिर मूल्य निर्धारण के लिये अनुकूल भूमि की तलाश में जो इतनी भटक रही है, उसके लिए देश की सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियाँ ही उत्तर दाई हैं। सामाजिक विकास की गति के साथ हो साथ साहित्य का विकास होता है। आधुनिक काव्य का विकास जिस सामाजिक परिस्थिति में हो रहा है, उसके विकास एवं परिवर्तन की गति अपेक्षाकृत पर्याप्त तीव्र रही। नित्य नये परिवर्तन सामाजिक स्वीकृति प्राप्त करते जा रहे हैं जिससे उसके अभिव्यक्ति के माध्यम काव्य रूपों में भी परिवर्तन का आना स्वाभाविक ही है। 'गतिमत्ता ही युग की विशेषताओं की परिचायिका है। हिन्दी कविता अपने उदय एवं विकास काल में जिस समाज के बीच से होकर अपनी प्रगति के पथ पर बढ़रही थी, वह युग अधिक से अधिक अश्व की पीठ पर बैठ कर दौड़ रहा था, पर आज का युग धरती का आंचल छोड़ चुका है और वह मन की गति की भाँति जेट विमानों से आगे बढ़ता हुआ नक्षत्रों की परिक्रमा करने चल पड़ा है। सभी भौतिकवादी दिशाओं में प्रगति अत्यन्त तीव्र गति से हो रही है और किसी भी एक स्थिति का स्थिर रहना कठिन हो गया है जिससे मानव के ज्ञान-विज्ञान का परिवेश भी जल्दी-जल्दी आगे बढ़ता जा रहा है। ऐसी स्थिति

में साहित्यकार युग की मांग को ठुकराकर अपने को पीछे कैसे छोड़ सकता है ? साहित्यकार का अनुभव क्षेत्र भी युग की प्रगति के साथ उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है।'[1] ऐसा लगता है कि युग का वैविध्य काव्य की सीमा में नहीं समा पा रहा है जिसके लिये गद्यकाव्य एक सुन्दर विकल्प रूप में वर्तमान है। साहित्य की यह बीसवीं शताब्दी विज्ञान की शताब्दी है जिसमें हृदय की अपेक्षा बुद्धि का प्राधान्य है, भावुकता एवं कल्पना की अपेक्षा तर्क और यथार्थ पर विशेष बल दिया जा रहा है। विज्ञान की प्रगति के कारण धरती छोटी हो गई है, प्रकृति निर्मित अलंघ्य सीमाएँ टूट चुकी हैं और किसी भी देश की राष्ट्रीयता अन्तरराष्ट्रीयता में बदल चली है। विश्व के सभी नागरिक परस्पर एक दूसरे से प्रभावित हो रहे हैं। 'मार्क्स' और 'फ्रायड' ऐसे युग चिंतकों ने लोगों को नये सिरे से सोचने के लिए विवश कर दिया है। सामाजिक एवं राजनीतिक धारणायें बदली हैं जिससे साहित्य की स्थापनायें एवं उसके मूल्य भी बदले हैं। काव्य साहित्य का अति प्राचीन रूप रहा है जिससे उसमें परिवर्तन आने अनिवार्य थे। इस विषम परिस्थिति में 'स्वान्तः सुखाय' को एक मात्र आदर्श मान लेना कवियों के लिए कठिन था। गद्य की बढ़ती हुई शक्ति एवं लोकप्रियता को दृष्टिपथ में रखते हुए काव्य-रूपों में परिवर्तन अनिवार्य हो गया क्योंकि यहाँ पहुँच कर उसके अस्तित्व पर भी प्रश्न वाची चिन्ह लगने लग गया था। प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, एवं नयी कविता के प्रति आग्रह इन्हीं सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों की देन है, परिवर्तन की भावना जिनके मूल में विद्यमान है, चाहे वह विषय गत हो अथवा शिल्पगत। स्वच्छन्दतावादी काव्य धारा के मूल में भी परिवर्तन की ही भावना कार्य करती है अतः किसी न किसी रूप में विभिन्न वादों के माध्यम से स्वच्छन्दतावादी काव्य धारा का विकास ही हुआ है। वर्ग विशेष एवं सिद्धान्त विशेष के आग्रह के कारण ही काव्य की ये नई प्रवृत्तियाँ अलग सी दिखलाई पड़ती हैं पर वास्तव में उनकी आत्मा में कोई भेद नहीं है। यह भिन्नता ऊपरी शरीर गत है, जिसमें ढलकर उसे परिवर्तित होना पड़ता है। इसकी चर्चा सुविधानुसार आगे की जायगी।

श्री शम्भूनाथ सिंह का अवतरण स्वच्छन्दतावादी काव्य के तृतीय उत्थान की सूचना देता है। इनके कुछ पीछे दो और गीतकारों की मानववादी प्रेमात्मक गीत वाणी सुनाई पड़ती है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने 'जीवनतरी' की भूमिका में इस त्रयी में श्री शम्भूनाथ सिंह प्रो० क्षेम और महेन्द्र का नाम

१. हिन्दी उपन्यास और यथार्थ बाद—नृ० से० पृ० ३८८

गिनाया है। सम्भवतः आचार्य वाजपेयी ने इस त्रयी का संकेत इसलिए नहीं किया है कि तीसरे उत्थान में केवल यही तीन कवि प्रमुख हैं, वरन् इसलिए कि 'प्रथम उत्थान' की स्पष्ट भाव भूमि और द्वितीय उत्थान की अभिधेयात्मक नग्नता के बीच मानववादी गीतों की विशुद्धधारा को ध्यान में रखकर ही उन्होंने ऐसा किया है। वैसे श्री शम्भूनाथ सिंह के साथ ही बिहार के श्री जानकीवल्लभ शास्त्री और उनके कुछ बाद हंसकुमार तिवारी भी आते हैं। ये कवि भी गीतात्मक ही हैं, यद्यपि उन्होंने स्वतन्त्र प्रगीत और विषय-परक रचनायें ही की हैं। जानकी वल्लभ शास्त्री के गीतों में भावनाओं की सहजता तो है, किन्तु उनके ऊपर संस्कृत साहित्य के गम्भीर अध्ययन का गाढ़ा प्रभाव भी है। इसी से भाषा और भाव दोनों ही क्षेत्रों में उनमें संस्कृत साहित्य की, शास्त्रीयता की छाप है। हंसकुमार तिवारी पर यह छाप उस प्रकार की नहीं है, किन्तु उनकी भावभिव्यक्ति और कलाचेतना पर 'रवीन्द्र' का प्रभाव स्पष्ट है। श्री गिरजा-कुमार माथुर ने शुद्ध गीत और मुक्तक कवितायें दोनों ही लिखी हैं। भावों की दृष्टि से उनमें एक बड़ी मधुर सरसता है, उनकी भाषा पर लोक प्रभाव की मधुरता भी है, किन्तु उनकी अत्यधिक स्वच्छन्दवादिता ने प्रयोगों में उलझाकर उनके स्वतन्त्रगीत तन्त्र के विकास में बाधा डाली है—

: एक :
चौक हैं पूरे छुई के—
चाँदनी
दीप ये ठण्डे रुई के—
चाँदनी
: दो :
चाँद लालिम ऊगकर
उजला हुआ
कामिनी उबटन लगा
आई नहा

× × × ×

: दस :
चुक गई सारी
उमर की चाँदनी
बाल सत से ऊजरे
ज्यों चाँदनी

साठ वरसों में
न बदली चाँदनी
फिर मिलेगी कब दही-सी चाँदनी
दूध, नैनू, घी; मही-सी चाँदनी

(नयी कविता से)

प्रयोग एवं बौद्धिकता से मुक्त 'माथुर' जी के आरम्भिक गीतों की सबसे बडी विशेषता उनकी संगीतमकता है। माथुर जी की संगीत चेतना अत्यन्त परिष्कृत है। यदि वे अपने को प्रयोगों के मोह से बचा सकते तो कदाचित हिन्दी के आधुनिक स्वच्छन्द मानववादी गीतधारा को अधिक विकसा मिल पाता। गीतों की धारा को अब भी अपनी प्रतिभा प्रदान करने वाले कवियों में 'क्षेम' और 'महेन्द्र' के नाम उल्लेखनीय हैं। महेन्द्र की कवितायें सम्भवतः किसी सुव्यवस्थित संकलन में अभी नहीं आ सकी हैं। किन्तु भाव चेतना और कला दोनों ही दृष्टियों से महेन्द्र के बीस-एक गीत बड़े परिमार्मित उतरे हैं। उनमें भावों की एक आन्तरिक ऊष्मा के साथ उर्दू के रचनाओं की भाँति ही आशु सम्वेद्यता भी है। जिन कवियों की भाषा पर उर्दू का रंग पड़ा है वे निश्चित ही अधिक हृदय ग्राही बन गये है। हिन्दी-उर्दू का यह समागम हिन्दी कविता के लिये बड़ा ही शुभ हुआ है। इससे केवल इतना ही लाभ नहीं हुआ है कि हिन्दी कविता में आशुसम्वेद्यता और मार्मिकता आई है बल्कि कुछ ऐसे अच्छे कवि भी हिन्दी को मिले हैं जो पहले उर्दू के अच्छे शायर गिने जाते थे। श्री विश्वनाथ लाल 'शैदा' को उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है।

'शैदाजी' के कवि में प्रतिभा का अद्भुत समन्वय हुआ है जो महाकाव्यों को पलथियों के नीचे दबाकर प्रचार एवं प्रकाशन से दूर साहित्य की उर्वर भूमि में काव्य-साधना करते रहे हैं। यदि 'शैदा जी' की कविताओं को समय से प्रकाशन मिला होता तो वे स्वच्छन्दतावादी काव्य धारा के द्वितीय उत्थान के कवियों में आदर पूर्वक गिने जाते, यद्यपि वे काव्यरचना का कार्य 'प्रथम उत्थान' के प्रमुख कवियों के साथ-साथ ही करते चले आ रहे हैं। हिन्दी में उनका बाद को आना और कविताओं को बाद में प्रकाशन मिलना ही उनके उचित मूल्यांकन में व्यवधान डाल गया। इधर उनके दो प्रबन्ध काव्य 'समुद्र मंथन' और 'मदालसा' प्रकाशित हुये हैं और कुछ कवितायें भी सामने आई हैं। हिन्दी काव्य में जिस 'हालावाद' का एक बार बड़ा शोर उठा था और उसके नामपर नग्नस्थूलता का चित्रण चल पड़ा था, उस ओर भी 'शैदा जी' की

दृष्टि गई थी, पर वे अपने स्वभाव एवं दार्शनिक विचारों के कारण प्रवाह में आकर भी अपनी विशेषताओं से वंचित नहीं हो पाये—

'नहीं मधुकरी मधु की मिलती भीख नहीं मिलती हाला,
याचक अब भी समझ बूझकर उलट याचना का प्याला,
अपने उद्यम से प्रकटाना अपनी इच्छा से पीना।
मानव तेरे साथ डोलती सुख संयम की मधुशाला॥'

(मधु-चंपू)

स्थूल के प्रति जो सूक्ष्म का विद्रोह हुआ उसका उपयोग 'शैदा जी' अपने ढंग से करते हैं। वैयक्तिक आग्रह से ऊपर उठकर ही लोकमंगल की भावना को जागरूक रखा जा सकता है। 'शैदा जी' का व्यक्ति जब पर्यवसित होकर अशरीरी व्याप्त-विराट सत्ता के समानान्तर चलने का दावा करने लग जाता है तो हमें उसके संकल्प का आभास होने लगता है—

सूक्ष्म तन्मयता जगाकर
रश्मियों में जा मिला हूँ
उर्मियों में जा छिपा हूँ
मधु-सृजन अनुरक्त हूँ मैं सर्वभूतों में समाकर।

(मधुगीत)

प्रसाद के 'आँसू' काव्य के मूलस्वर से प्रभावित होकर अनेक कवि मैदान में आये, कितनों ने उस छन्द को ही अपनाया और कितनों ने विषय से ही प्रभाव ग्रहण किया। कुछ कवि तो ऐसे भी रहे जिन्होंने रचनायें 'आँसू' से भी पहले अथवा कुछ ही बाद में की थीं पर प्रकाश में न आने के कारण ही वे उपेक्षित रहे। प्रमाणस्वरूप प्रसिद्ध नाटककार लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'अन्तर्जगत' को लिया जा सकता है। मिश्र जी की अभिव्यक्ति निश्चित ही 'आँसू' से टक्कर लेती है, यह दूसरी बात है कि वे अपनी इस प्रतिभा को विकसित नहीं कर पाये—

नीचे सिन्धु भर रहा आहें, हँसते नखत गगन में;
सबसे दूर जल रहा दीपक तेरे भव्य भवन में।

(अन्तर्जगत)

इसी प्रकार 'शैदा जी' के 'मम' की पंक्तियाँ भी 'प्रथम उत्थान' के आस-पास ही लिखी गईं पर वे समय से प्रकाश में न आसकीं।

नतमस्तक सहमी सकुची-सी भू पर आँख गड़ाये।
मूक वेदना के आँचल में मन के भाव छिपाये॥

भीगी पलकों में रोके अव्यक्त अश्रु का पानी।
लिखती और मिटाती-सी पर नखसे मर्म कहानी ।।
परछाईं से सिहर-सिहर आहट से कँप-कँप जाती।
अकस्मात घबराई-सी घूँघट में बदन छिपाती ॥
नवयौवन के नवविकास में रंग-रूप मदमाती।
मंद-मंद सम्मोहक गति से लज्जारानी आती ।।"

(मर्म)

'शैदा शतक' के छन्दों में मार्मिकता एवं अनुभव का निखार अधिक है, पर अप्रकाशित मुक्तकों की जिन्दादिली अपेक्षाकृत अधिक आशुसम्वेद्य है—

(१) 'तुम्हारे गीत गाये जा रहा हूँ,
तुम्हीं से स्वर मिलाये जा रहा हूँ।
पड़े हैं भाव पर प्रतिबिम्ब जितने,
उन्हें भाषा बनाये जा रहा हूँ।'

(२) 'तुम्हीं श्यामघन की घटाओं में छाये,
तुम्हीं बन के विद्युत् प्रभा मुस्कराये ।
नजर मेरी तुमको न पहचान पाई,
मगर सामने तुम बहुत बार आये।'

(विश्वनाथ लाल 'शैदा')

गिरधर गोपाल, विजयदेवनारायण शाही, रमानाथ अवस्थी, विरेन्द्र मिश्र 'भारती' नीरज, बिहार के अरुण और किशोर का नाम भी तृतीय-उत्थान के कवियों में बड़े महत्व का है। इन कवियों की काव्य धारा स्वच्छन्दतावादी ही है। गिरधर के गीतों की मधुर विषादछाया और रमानाथ अवस्थी के गीतों की सहज, सरल भावुकता के साथ 'शाही जी' के गीतों की कल्पनात्मक रंगीनी भी लक्षणीय है—

लहरा रहा है मुझ पर किस जिन्दगी का आँचल !
जो उठ रहे दृगों में छबि के हजार बादल !!
कुछ इस तरह डुबा दो कि फिर न मिटे खुमारी !
चलता रहूँ जहाँ तक बजती रहे ये पायल !!

(धूप का सागर)

'नीरज' के रोमानी गीतों ने इधर लोगों को काफी अपनी ओर आकर्षित किया है। समसामयिक गीतकारों में अपेक्षाकृत नीरज में स्थूल ऐहिक नग्नता अधिक है पर भावों में इतनी स्पष्टता है कि श्रोता अथवा पाठक तत्काल

कवि के अभिप्रेत भावों तक पहुँच जाता है। रूप और प्यार का गायक कवि भावों में डूबता अवश्य है पर भावी आशंका की डोर उसे ऊपर से थामें रहती है—

रूप की इस काँपती लौ के तले
यह हमारा प्यार कितने दिन चलेगा ?

(बादर बरस गयो)

और वह अपनी रूपगर्विता प्रियतमा को सचेत करने लग जाता है—

मत करो प्रिय ! रूप का अभिमान
कब्र है धरती, कफ़न है आसमान।

(बादर बरस गयो)

जिन कविताओं में उद्‌बोधन का स्वर प्रधान हो उठा है 'नीरज' प्रगति की ओर आस्थावान दिखलाई पड़ने लग जाते हैं—

रुके न जब तक साँस, न पथ पर रुकना थके बटोही !

(बादर बरस गयो)

समय चक्र में परिवर्तन कितनी तेजी के साथ हो रहा है कवि को इसका अन्दाज है और वह परिवर्तित समय के साथ ही पथिक को चलने की सलाह देता है क्यों कि वर्तमान में खोये हुए को बाद में हाथ ही मलना पड़ता है —

स्वप्न भरे फूल से,
भीत चुभे शूल से,
लुट गये सिंगार सभी बाग़ के बबूल से,
और हम खड़े-खड़े बहार देखते रहे,
कारवाँ गुज़र गया गुबार देखते रहे !
× × ×
और हम डरे डरे,
नीर नैन में भरे,
ओढ़ कर कफ़न पड़े मज़ार देखते रहे,
चाह थी न, किन्तु बार बार देखते रहे,
कारवाँ गुज़र गया गुबार देखते रहे !

(आसावरी)

'मुक्तकी' के मुक्तक भी अच्छे बन पड़े हैं—

आदमी फौलाद को पी सकता है,
आदमी चट्टान को सी सकता है,

यह तो सब ठीक, मगर प्यार बिना
आदमी कहीं भी नहीं जी सकता है।

(मुक्तकी)

रवीन्द्र 'भ्रमर' के स्वच्छन्दतावादी गीत गेयता और भावप्रवणता सभी दृष्टियों से तृतीय उत्थान में अपना एक स्थान रखते हैं।

रूप और 'वंशी' के गायक 'भ्रमर' की सुरीली तान जड़-चेतन को आन्दोलित करती हुई 'सारे गाँव के जग जाने' का अन्देशा पैदा करती है। चित्र भाषा शैली का निर्वाह 'भ्रमर' के गीतों की अपनी विशेषता है जिसमें अनुप्रासों की छटा भी देखने को मिल जायगी। जब उनके गीतों में 'हरि सिंगार के फूल' झरने लगते हैं तो केवल बयार के ही अंग नहीं सिहरते बल्कि औरों के भी सिहरने लग जाते हैं। जब वे यह कहने लग जाते हैं—

मेरे संमुख पथ इतने हैं
किस पर चलूं सो चलने दो।

तो केवल उससे समाज में व्याप्त विषमता का ही अर्थ नहीं लेना चाहिये बल्कि उसका अर्थ काव्य-विधा से भी है क्योंकि हम देखते हैं कि उनके गीतों का स्वर स्थिर भी नहीं हो पाया था कि वे प्रयोगों की चपेट में आ गये। पर जहाँ तक रोमानी भावनाओं का प्रश्न है 'भ्रमर' में वह मूल रूप में विद्यमान है जिससे हमें उनके दर्शन उनकी नवीनतम रचनाओं में भी हो जाते हैं—

रूठो मत—
मन मेरे
मुझसे मत रूठो!
लदे हुये फूलों के स्वप्न बिखर जायेंगे
अमलतास के पीले गुच्छे झर जायेंगे
लौट नहीं आयेंगे
फिर ये पहर वसन्ती,
छूटो मत,
प्रण मेरे,
मुझसे मत टूटो!

इस प्रकार 'भ्रमर' जी को गीतों की परम्परा को भी न तो छोड़ना चाहिये था और न तो तोड़ना ही!

प्रबन्ध काव्य की क्षमता रखने वाले कवि भी स्वच्छन्दतावादी काव्य धारा के प्रभाव से अपने को बचा नहीं सके हैं। 'छत्रसाल' महाकाव्य के प्रणेता लालधर त्रिपाठी 'प्रवासी' इसी श्रेणी के कवि हैं। उनके 'शार्दूल' नामक कविता संग्रह में स्वच्छन्दतावादी काव्य के सुन्दर उदाहरण भरे पड़े हैं। 'प्रवासी' जी जब रूढ़िग्रस्त समाज से निराश होते हैं तो उस पर एक उपेक्षा भरी दृष्टि डालते हुये अपने निश्चय एवं आत्मविश्वास को तो व्यक्त करते ही हैं साथ ही साथ विराट प्रकृति को भी समेटते चलते हैं—

मैं जलता हूँ जलने दो !
मत मुझे बचाने आना,
ओ दुनिया वालो ! मुझसे
मत सहानुभूति दिखाना !
× × ×
अम्बर तल के हे तारो !
पल भर को पलक गिराना,
मैं रहूँ न रहूँ जगत में
मत मेरी बात चलाना !
× × ×
तुम चलो लीक से अपने,
मैं वन वन फिरूँ अकेला,
पागलपन का सौदा है,
पागलपन का है मेला !

(निवेदन)

'अमर अभिलाषा' शीर्षक में लिखी हुई कविता में 'प्रवासी जी' ने जीवन की व्याख्या की है और 'अन्तर्वेदना' में वे कविवर 'पंत' की रहस्यात्मकता का अनुगमन करते जान पड़ते हैं पर लौकिकता के भाव उनमें स्पष्ट हैं। इसी प्रकार 'समाधि की घास' से भी 'प्रवासी जी' के हृदय की कोई छिपी हुई विषम वेदना प्रकट होने के लिये मार्ग ढूंढ़ती जान पड़ती है।

खड़ी बोली के इस युग में भी ब्रज भाषा का आकर्षण न छोड़ने वाले तथा राधा और कृष्ण की मोहक सुषमा को रीतिकालीन छन्दों में चित्रित करने वाले कवि किशोरीलाल गुप्त को लक्षणा और व्यंजना छोड़कर हृदय की बात कहने के लिये अभिधा में लिखना ही पड़ा है। स्वच्छन्दतावादी कवियों की स्पष्ट अभिव्यक्ति से भी आगे बढ़कर वे कहने लग जाते हैं—

लिख रहा हूँ गीत
आज कहता हूँ हृदय की बात
आज कंपित नहीं होता गात
पहुँच जायेगा हृदय सन्देश
आज मैं बिल्कुल नहीं भयभीत ।।

× × ×

हृदय पर छाया हुआ मधु भार
आज गीतों में रहा हूँ ढार
सुन सकोगे क्या न मूक पुकार
प्रीति के ये तार ले मन मीत ।।

चाँदनी रात की मादकता कवि के लिये आकर्षण की वस्तु है जिसका वह अनुकूल भाषा-द्वारा ऐसा वर्णन भी करता है कि एक सजीव वातावरण का निर्माण हो जाता है पर उससे भी महत्वपूर्ण अभिलाषा को जिसे वह हृदय की गहराइयों में सजोये बैठा है, प्रकट करना नहीं भूलता—

आज मिल लें चाँदनी में
बरसता है रस सुधा धर
झर रहा है रजत झर झर
विधुर विधु की ओर बढ़ते
आज तिर लें चाँदनी में

इसी प्रकार किशोरीलाल जी गुप्त की 'संदेश' और 'लो उत्तरीय संभार' नामक कविताओं में स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा की अभिव्यक्ति हुई है ।

स्वच्छन्दतावाद की दृष्टि से विचार करने पर कुछ ऐसे कवि भी उसकी सीमा में आ जाते हैं जिन्हें हिन्दी की आलोचना परम्परा में विभिन्न वादों की सीमा रेखा में बाँध दिया गया है । गीतों का ढाँचा न होने पर भी श्री 'अज्ञेय' जी की कुछ रचनाओं का भावताप और आंतरिक संगीतात्मकता बड़ी सम्वेदनीय और गीतात्मक है । व्यक्तिवादिता और अप्रस्तुतों तथा प्रतीकों की नवीनता के आग्रह ने अवश्य ही 'अज्ञेय' जी की गीतात्मकता को एक निश्चित स्वरूप ग्रहण करने में बाधा पहुँचायी है, फिर भी 'अज्ञेय' जी-सी परिष्कृत व्यक्ति-चेतना और वेदनापूर्ण सम्वेदनीयता आधुनिक युग के बहुत कम कवियों में पाई जाती है । श्री केदारनाथ अग्रवाल की स्वच्छन्द गीतात्मकता प्रगतिवाद के अखाड़े में भी सूख नहीं सकी—

"माँझी न बजाओ वंशी।
मेरा मन डोलता ॥"

—केदारनाथ अग्रवाल

जैसे गीत उनकी भाव स्नात् सहज उन्मेशशालिता के पुष्ट प्रमाण हैं। अग्रवाल जी में प्रगतिवादी आग्रह की कठोरता अन्यों की अपेक्षा बहुत कम है। प्रगतिवाद को काव्य की सहज भूमि प्रदान करने वाले कवियों में शिवमङ्गल सिंह 'सुमन' और केदारनाथ अग्रवाल के नाम अग्रगण्य हैं। 'सुमन' जी के कण्ठ में भले ही संगीत न हो किन्तु उनके कवि में एक सहज संगीतमय भावुक हृदय है।

"मैं न आया था तुम्हारे द्वार।
पथ ही मुड़ गया था ॥"

जैसी रचनायें कवि के भावुक हृदय की पूर्ण परिचायक हैं। 'अंचल' जी का भावावेग बड़ा ही तीव्र एवं मांसल है।

एक पल के ही दरस से जग उठी तृष्णा अधर में।
जल रहा परितप्त अंगों में पिपासाकुल पुजारी ॥

—अञ्चल (मधुलिका)

त्रिलोचन शास्त्री, शमशेर बहादुर सिंह, भवानीप्रसाद मिश्र व धर्मवीर भारती प्रयोग और प्रगति के बिल्लों से न भड़कने वाले आलोचकों को निकट जाने पर स्वच्छन्दतावाद से दूर न मिलेंगे।

त्रिलोचन शास्त्री की रचनाओं में एक स्वच्छन्द और अक्खड़ व्यक्तित्व की छाप मिलती है, उनकी प्रेम विषयक अनुभूति और दृष्टि अपना एक महत्व रखती है—

दर्शन हुए, पुनः दर्शन, फिर मिलकर बोले,
खोला मन का मौन, गान प्राणों का गाया,
एक दूसरे की स्वतन्त्र लहरों में पाया
अपनी-अपनी सत्ता में, जैसे पर तोले
दो कपोत दायें-बायें स्थित, उड़ते-उड़ते
चले जा रहे दूर क्षितिज के पार हवा पर,
उसी तरह हम प्राणों के प्रवाह पर स्वर भर
लिख देते अपनी कांक्षाएँ, मुड़ते मुड़ते
पथ के मोड़ों पर संतुलित पदों से चलते

और प्राणियों के प्रवेग की मौन परीक्षा
करते हैं, उपलब्ध योग की सहज समीक्षा
शक्ति बढ़ा देती है, नए स्वप्न हैं पलते
विपुला पृथ्वी और सौर मंडल यह सारा
आप्लावित है, दो लहरों की जीवन-धारा

(त्रिलोचन शास्त्री)

'भारती' की आरम्भिक रचनाओं में एक सुकोमल कल्पना और भाषा की उर्दू भरी मिठास मुख्य है। शमशेर बहादुर की रचनाओं में भावों की प्रगाढ़ आन्तरिकता होती है। भवानीप्रसाद मिश्र में अभिव्यक्ति की अनुपम सरलता है, यद्यपि तुकों का मोह कहीं-कहीं खटकता है। 'महामानव' के लेखक ठाकुर प्रसाद सिंह 'अग्रदूत' एवं रामदरश मिश्र की रचनाओं में लोक गीतों के स्पर्श सरलता और भावुकता को बढ़ाने वाले हैं। श्री रूपनारायण जी त्रिपाठी के 'धरती के स्वर', 'माटी की मुस्कान' में तो बदले किन्तु कवि की सरल भावुकता गीतों में मौलिक चिन्तन के साथ उतरी है। इनकी रचनाओं में अधिकतर जन-जीवन की आन्तरिक मनोव्यथा मुखरित हुई है। इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार इन्होंने परिपाटी के निर्वाह में मौलिक मोड़ प्रस्तुत किया है। कवि को यदि विश्वास का सहारा मिल जाय तो वह असम्भव को सम्भव कर दिखाने का दम भर सकता है—

मैं नया मीत लाया तुम्हारे लिये
हाँ, नया गीत लाया तुम्हारे लिये।
साथियो चीर कर रात की कालिमा
मैं सुबह जीत लाया तुम्हारे लिये।

—रूपनारायण त्रिपाठी (माटी की मुस्कान)

त्रिपाठी जी कल्पना की उड़ान तो लेते हैं पर उनका कवि धरती की शक्ति पहचान कर उपदेश देने लग जाता है—

भरना चाहा चाँद न समझा अपनी बाहों की मजबूरी
सागर की लहरों, मत भूलो धरती और गगन की दूरी।

बिखरेगी असफल अभिलाषा।
लहरों आज बदलनी होगी
तुम्हें जिन्दगी की परिभाषा।

× × ×

इसे मान लेता मैं, कहले जो कहता है अम्बर लेकिन
धरती पर आकर ही उसकी बात हुआ करती है पूरी।

(माटी की मुसकान)

बिहार के केदारनाथ मिश्र 'प्रभात', मोहलगाल महतो वियोगी की आधुनिकतम रचनायें जहाँ स्वच्छन्दतावाद के द्वितीय उत्थान में पली हैं वहाँ उन पर नवीन वातावरण की चेतना भी स्पष्टतः प्रति फलित हुई है।

श्री महेन्द्र शंकर जो पहले 'अधीर बी० ए०' के नाम से लिखते थे एक सुलझे भावों के गीतकार हैं, जिनमें ताज़गी और नवीनता एक साथ मिल जायगी। इनके गीतों में बिम्बचित्रों की स्वस्थता ओर स्पष्टता, लोकगीतों की धुनों और भावभूमियों के संस्पर्श मिल जायँगे जिससे उनमें सरसता, लयात्मकता ओर भावसंप्रेषण शीलता का सुन्दर संयोग हुआ है। ग्रामीण अथवा पर्वतीय मौसम की प्रतिक्रियात्मक अनुभूतियों का रूपांकन 'अधीर जी' की कविताओं में बड़े ही सजीव रूप में हुआ है। दूसरे शब्दों में कहें तो इनकी कविताओं में मिट्टी की महक और महुये की मादकता एक साथ मिलती है—

बदरिया झिमिर-झिमिर झिम बरसे
जैसे मोतियन लर टूटे!
भींगे हुये बालछितरेहैं घटा न घिरी घनघोर,
चुहल भरी चौवाई चल-चल देती है झकझोर,
× × ×
नागन जैसी झूम रही है फसलें भरी हुलास,
बिजली ऐसे कड़क गिरी है करसे कँगना ज्यो छूटे।

'मनहारिल लौट चलो' नामक शीर्षक से लिखी 'अधीर' जी की कविता में भोजपुरी शब्दों को खड़ी बोली में खपाने का स्तुत्यप्रयास दिखलाई पड़ता है जिसके और भी उदाहरण उनकी 'अगहन की साँझ' और 'निमिया के डाल के' नामक कविताओं में मिल जायेंगे। जीवन की अनुभूतियों के आधार पर लिखे मुक्तकों में मानवीय भावों को जो सहज अभिव्यक्ति महेन्द्र शंकर जी ने दी है उससे उनकी सूक्ष्म दृष्टि एवं निःसंकोच स्वच्छन्द अभिव्यक्ति का परिचय मिल जाता है जो कवि के यश को स्थिरता प्रदान करने के लिये पर्याप्त है—

देखा है मंजिल से राह शुरू होती है।
पहले संकोच से ही चाह शुरू होती है।
पार जाना है तो मँझधार आजमा लेना
दोस्त, किनारे सेही थाह शुरू होती है।

२

प्यार ऐसा है कि मरजाद छूट जाती है।
काठ से चन्दन की गन्ध फूट आती है।
जाने क्या आँखों में कौन सा रमल होता
एक दिन शर्म की मेहराब टूट जाती है।

३

सिन्धु की लहरों से लपट बड़ी होती है।
सूख जाती है जो फसल खड़ी होती है।
कितने हिमवानों का सब्र पिघलते देखा
रूप की आँच बे अन्दाज कड़ी होती है।

(महेन्द्र शंकर अधीर)

श्री चन्द्रदेव सिंह रोमानी धरातल के एक सक्षम कवि हैं। पिछले दस वर्षों में इनकी कई पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं जिनमें 'स्नेह-सुरभि' 'साँसों के फूल' की भाषा छायावादी प्रभावकारिता से मंडित तो हैं लेकिन इनकी भाव-भूमि सर्वथा यथार्थवादी है। इनकी कविताओं में विरह-मिलन के मार्मिक प्रसंगों की अनुभूतियों का सहज चित्रण सुन्दर बन पड़ा है।

जहाँ उन्होंने नयी कविता के विशिष्ट गुणों को ग्रहण करने के प्रति जाग-रूकता दिखाई है वहीं उनका गीतकार भी कम सजग नहीं है और नयी कविता के अपेक्षित तत्वों से आवृत उसके गीत भी ताजगी और निखार से दीप्त हैं और लोक तत्वों को गीतों में ढालकर वह नई गीति परम्परा के स्थापन में सक्रियता दिखा रहा है।

इस सन्दर्भ में 'अनगाया सावन' उल्लेख्य है—

अनगाया बीत गया सावन इस वर्ष भी।
अन चाहे खिड़की से झाँकना पड़ा रह रह
पानी के पन्नों पर नन्हा सा नाम एक
लिखना पड़ा रह-रह
बाँचना पड़ा रह-रह
उतरे बादल मेरे आँगन इस वर्ष भी।

× × ×

पलकों पर बिजली, धर होठों पर इन्द्र धनुष
आँचल में बाँधे दो भरे-भरे से लोचन
और भी घिरे क्या कहीं ये घन, इस वर्ष भी ?

इस प्रकार जहाँ उसे वातावरण और मौसम ने छेड़ा है, वहाँ उसकी सहज अनुभूतियों की सांकेतिकता मुखर हो उठी है—

महुये के फूल झरे, झर गए
तुम गये बिसर गए

× × ×

क्या न वहाँ सरसों का फूल कोई दिखा था,
मौसम ने क्या तुम्हें खत कोई लिखा था,
कोयल के गीतों यहाँ घर-आँगन भर गए!

इसी स्वच्छन्द धारा के अन्तर्गत इनके मुक्तक भी आते हैं जिनकी रोमानी तरलता और साफ सुथरी अभिव्यक्ति निहायत सुन्दर है।

भावना का सजल उद्‌गार सरस होता है।
स्वप्न से स्वप्न का आधार सरस होता है।
प्यार की साँस अंधेरे में किरन बनती है।
मिलन का एक पल हजार बरस होता है।

जहाँ इनकी वैयक्तिकता प्रखर हो उठी है वहाँ उन मुक्तकों में काफी जिन्दादिली आ गई है—

श्री दिवाकर 'उद्‌गार' के प्रकाशन के साथ सामने आये। उन्होंने दिग्भ्रांत-भौतिकता के प्रारम्भिक ज्वारों की अनुभूति पाकर शुरू में विद्रोह के स्वर में गाया—

कठिन राह है किंतु विश्वास अपना,
बढ़े हैं चरण तो बढ़े ही रहेंगे।

इसके साथ ही विश्व-चेतना के प्रति सजग रहते हुए सदैव उन्होंने अपने को विश्व में देखने का अभ्यास भी किया है 'संसार हमारा है' रचना इस प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करती है। वैयक्तिक जिन्दगी की अपेक्षा सामाजिक जिन्दगी ही दिवाकर जी को अधिक प्यारी है, वे सामाजिक विषमताओं से आँखें नहीं मूँदना चाहते, बल्कि प्यार के संस्पर्श से उसकी कड़ुहाट मिटाना चाहते हैं—

एक गीत प्यार का, एक गीत अश्रु का,
अधर मुस्करा उठे, नयन डबडबा उठे।

(जिंदगी इसे कहो)

दिवाकर जी में विषय की अनेकरूपता न होने के कारण शब्दावली का चुनाव प्रायः एकसा ही हुआ है जो खलनेवाली बात है। कवि की अपनी सहज बोधगम्यता तथा स्पष्टता उल्लेखनीय है।

रामबहादुर सिंह भदौरिया ने गँवई चित्रों का यथार्थ वर्णन प्रस्तुत किया है—

गोरी-गोरी उंगली जब महुआ बीनती,
लगता उषा-किरन शबनम को चूमती।
या कि झुंड हंसो के मोती चुगने चले।
× × × ×
जुड़े-सी रात लगी खोलने,
बिंदिया-सा चाँद चमकने लगा।

समाज और समय की विपरीत गति से 'भदौरिया जी' को शिकायत है—

अनायास हाथ उठे नंगे कर देख-देख,
कुल की सुहागिन के होंठ काँपने लगे।
नैनों के द्वारा पर बहुत कड़ा पहरा,
फिर भी कब माने अरमान झाँकने लगे।
इसी बीच अम्मा कह छाती से लिपट गया,
धूल भरे हाथों ने सोखलिया आँसूकण।

'अर्चना के गीत' नामक संग्रह में कुछ ऐसी कवितायें संग्रहीत हैं जिनमें कवि शिवसहाय पाठक की व्यक्तिगत अनुभूतियाँ मुखरित हुई हैं। भावों का वेग जब बढ़ जाता है तो कवि को वाणी नहीं मिलती और जिज्ञासुओं को एक इशारे से बतला देता है कि वे प्रकृति के गतिमान तत्वों से उसके मन की थाह लगा लें—

मेरे मन की बात हर लहर से पूछो,
मेरे तनकी बात किनारों से पूछो।
उनके उत्तर से भी सन्तोष न होता हो,
तो मेरे हिय की बात सितारों से पूछो।

इसी प्रकार 'बादलों के पार से···' तथा 'सर्जन-गीत' नामक कविताओं में कवि का विश्वास और उसकी मान्यताये मुखर हो उठी हैं।

चन्द्रबली राय 'नवल' के प्यार की राह अनोखी है जिसमें—

प्यार के पथ पर मूकवाणी रही,
प्राण जलते रहे, दृग पिघलते गये।
× × × ×
इसलिये शून्य पथ पर, जगत के चरण,
लड़खड़ाते रहे, किन्तु चलते गये।
(प्राण-परिमल)

विद्याधर 'मंजु' की 'युगों तक तोड़ न पाऊँ' कविता में भी स्वच्छन्दतावादी काव्य के तत्व मिलते हैं और मूलेश्वर 'पंथी' के रोमानी गीतों के संग्रह 'विपंची' में भी इस काव्य धारा का सफल निर्वाह हुआ है।

यद्यपि मैं इस ग्रन्थ में काव्य के एक विशेष अंग हास्य की विवेचना करने में समर्थ नहीं हो पाया, किन्तु इतना तो अवश्य ही अनुभव करता हूँ कि इस युग में अनेक कवियों ने हास्य की प्राचीन प्रणाली को नया स्वरूप प्रदान किया है। इसके पूर्व काव्य में हास्य की योजना बीच-बीच में कथा प्रसंगों के साथ कर दी जाती थी किन्तु इस युग के अनेक कवियों ने अपनी अपनी रचनाओं में हास्य को स्वतंत्ररूप से स्थान दिया है जिसमें 'बेढब जी' तथा 'बेधड़क' का नाम आदर के साथ लिया जाता है। इन कविताओं के मूल्यांकन में जो सबसे बड़ी कठिनाई है वह यह कि ये रचनाये समसामयिक परिस्थितियों को लेकर ही की जा रही हैं जिससे इनका कोई एक सुनिश्चित रूप नहीं बन पा रहा है पर इतना तो स्वीकार-करना ही होगा कि हास्यरस के आधुनिक कवि भी स्वच्छन्दतावादी धारा की प्रवृत्तियों से प्रभावित हुये हैं, नहीं तो "सूँड" (फैजाबादी) जैसे हास्य और व्यंग्यके कवि वैयक्तिक प्यार की लपेट में न आ जाते—

"प्रीति बुरी है फिर भी मुझको नीले रँग से प्यार हो गया"

—सूँड फैजाबादी (लपेट)

कुर्सी की पूजा हर युग में हुई है पर प्रजातंत्रीय शासन में इस पूजनवृत्ति से समाज का कितना अकल्याण हो सकता है 'सूँड' जी ने इसका अनुभव किया है। 'कुर्सी' शीर्षक में लिखी निम्नांकित कविता यद्यपि समसामयिक महत्व ही रखती है पर कवि ने जितने तत्वों का समावेश इसमें कर डाला है उनका महत्व इसलिये स्थायी है कि जब तक तथाकथित सरकार रहेगी इसका स्वर बासी न होगा—

"बार बार कुर्सी का बन्दन, बार बार कुर्सी का बन्दन"
जहाँ बसे खटमल सैलानी, साथ साथ उनका अभिनन्दन
बार बार कुर्सी का बन्दन
मकड़ी बैठी राजमुकुट में, माँज रहा सिंहासन थाली।
कुर्सी पर फक्कड़ जी बैठे शासन रत, टोपी मतवाली।
भाषण देते कागभुशुण्डी, सुनती है हंसों की टोली।
कुर्सी पर लुक्कड़ जी बैठे, खेल रहे सावन में होली।
बाघम्बर पर बैल डकरता, भाग चले डमरू ले शंकर।

कुर्सी पर लुक्कड़ जी बैठे कहलाते साहित्य भयंकर।
जहाँ बैठ धोबी का पशु भी लगवाता माथे पर चन्दन
ऐसी कुर्सी का अभिनन्दन ॥ बार० ॥

—सूँड

वर्तमान में परिवर्तन अपेक्षित है, इसे सीधे न कह कर व्यंग्य के माध्यम से कहा गया—

इधर हिन्दी के कवियों का आकर्षण क्षेत्रीय बोलियों की ओर भी बढ़ा है। भोजपुरी गीतों का तो एक आन्दोलन सा ही खड़ा हो गया है और इसमें सन्देह नहीं कि उसमें से सोंधी मिट्टी की गमक आती जान पड़ती है। इन कवियों को प्रकृति का स्वच्छन्द आंचल विशेष प्रियकर रहा है और प्रकृति अपने पूर्ण यौवन में खुलकर इन गीतों में आई है जिनमें रामविचार पाण्डेय, चन्द्रशेखर मिश्र, दिवाकर लाल अंकुर, प्रभुनाथ मिश्र तथा राहगीर आदि प्रमुख हैं। 'राहगीर' की 'आइल बसंत ऋतु' आइल रे नामक कविता में अनाडम्बर पूर्ण प्रकृति का चित्रण हुआ है जिससे एक चित्र खिच जाता है—

आइल बसंत रितु आइल रे,
हमरे दुवरा पर चांद मुसुकाइल रे।
जउवा के खेतवा पर चढ़ली जवनियां,
गेहुँवा पर बरसल सोनवा के पनियां,
बुटवा में तिसिया धंधाइल रे आइल·····

× × ×

बहुत दिन पर आइल मधु मसवा,
तनमन बीच लहराइल हुमसवा,
सारी बन बरिया फुलाइलरे, आइल·····

(राहगीर)

इसी प्रकार उनकी 'आइल शरद' और 'बरखा बहरबा' आदि कविताओं में भी प्रकृति का आलम्बन रूप में चित्रण हुआ है।

परिशिष्ट

तृतीय उत्थान की भूमिका में ही मैंने संकेत कर दिया था कि प्रगतिवाद प्रयोगवाद और नयी कविता की ओर कवियों का आकर्षण विषय परिवर्तन और काव्य-रूप को लेकर ही हुआ जिसमें प्रगतिवादी कवियों ने विषय परिवर्तन पर अधिक बल दिया।

प्रगतिवाद को साम्यवाद का ही साहित्यिक रूप मानना चाहिये जो शोषितों का पक्षपाती और पूँजीपतियों का विरोधी है। स्वच्छन्दतावाद के अन्तर्गत छायावाद यदि स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह है तो प्रगतिवाद सूक्ष्म के प्रति स्थूल का विद्रोह है। प्रगतिवाद शब्द का अर्थ दो अर्थों में लिया जाता है। एक तो सामान्य राष्ट्रीय और सामाजिक कविताओं के लिये और दूसरे मार्क्सवादी विचार धारा से अनुप्राणित रचनाओं के लिये जिसमें कम्युनिस्ट पार्टी का दलगत साहित्य है और उसमें रूसी कम्युनिस्ट पार्टी के नेता को ही अधिक महत्व दिया जा रहा है। प्रगतिवादी कविताओं के साथ एक निश्चित भावधारा सन्निहित हो चली है। इस प्रकार की कविताओं का उपयोग वही है कि इससे पूँजीवाद के नाश और समाजवाद की विजय में योग मिल सके। इससे यह आवश्यक हो जाता है कि कवि समाज के उन मूलतत्वों को पकड़ने का प्रयत्न करे जिनके द्वारा समाज की क्रान्तिकारी शक्तियों को बल प्रदान किया जा सके। समाज की वे शक्तियाँ यथार्थ की आधार शिला पर खड़ी होकर यदि समाज को आमूल परिवर्तित कर आर्थिक समानता के लिये सभी को समान अवसर प्रदान करने और वर्गहीन समाज की स्थापना करने में सफल हुईं तो प्रगतिवादी कवि अपने को सफल समझता है।

इस प्रकार प्रगतिवादी कवितायें प्रचारको अधिक महत्व देने के कारण समसामयिक काव्य का ही महत्व पा सकती हैं और उनकी व्यापकता भी एक दल विशेष तक ही सीमित रह जाती है क्योंकि प्रगतिवादी लेख काव्य-तत्वों की अपेक्षा समाजवादी सिद्धान्तों को ही अपनी कविताओं में लाने की चेष्टा अधिक करता है। ऐसी कविताओं में स्वतन्त्रता की भावना, क्रान्ति की पुकार, सामाजिक समस्याओं के प्रति जागरूकता, काव्य के सम्बन्ध में अति सामान्य धारणा तथा बौद्धिकता और व्यंग का प्रसार निहित रहता है। असमान विभाजन के कारण उत्पन्न दुःख के प्रति 'पन्त' जी के उद्गार प्रगतिवादिता की सूचना देने लग जाते हैं—

जग पीड़ित है अति दुख से,
जग पीड़ित है अति सुख से,
मानव जग में मिल जाएँ
सुख दुःख से औ दुःख सुख से।

(पंत)

इसी प्रकार मजदूरों की हृदयद्रावक अवस्था का चित्र 'निराला' जी ने भी खींचा—

वह आता।
दो टूक कलेजे को करता, पछताता पथ पर आता।
पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक
चल रहा लकुटिया टेक
मुट्ठी भर दाने को भूख मिटाने को
मुँह फटी पुरानी झोली को फैलाता
वह आता।

(निराला)

इस प्रकार 'वह तोड़ती पत्थर' नामक 'निराला' जी की कविता में भी प्रगतिवादी विचार धारा का सफल निर्वाह हुआ है पर इन कवियों ने पर पक्ष की निन्दा और स्वपक्ष की स्तुति में ही सारी कला नहीं लगा दी है बल्कि काव्यात्मकता का पूर्ण ध्यान रखा है। बाद में जब कवि कटुता और प्रचार तक उतर आए तो वहीं उन्होंने सीमा का अतिक्रमण कर दिया—

वह राज काज जो सधा हुआ इन भूखे कंगालों पर,
इन साम्राज्यों की नींव पड़ी है तिल-तिल मिटने वालों पर
वे व्यापारी के जमींदार जो हैं लक्ष्मी के परम भक्त।
वे निपट निरामिष सूद खोर पीते मनुष्य का उष्ण रक्त।

(भगवतीचरण वर्मा)

लाल रूस है ढाल साथियो, सब मजदूर किसानों की,
वहाँ राज्य है पंचायत का, वहाँ नहीं है बेकारी
लाल रूस का दुश्मन साथी, दुश्मन सब इंसानों का

(नरेन्द्र)

नष्ट कर दो आज धरती पर खड़े—
अभिशाप से—
इन राज महलों को जला कर
नष्ट कर दो,

लक्ष्मी के लाड़लों के,
ये विशाल भवन !

(विश्वनाथ मिश्र)

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रगतिवादी कवितायें प्रचार का माध्यम बनकर रह गईं और उनमें एक वर्ग विशेष की सामाजिक प्रतिक्रिया ही व्यक्त हुई है। स्वच्छन्दतावादी काव्य का जो आन्दोलन चल रहा था, वह यहाँ आकर कुछ दिनों के लिये रुकसा गया पर इसका तूफान धीरे-धीरे रुकता हुआ हिन्दी उपन्यासों के माध्यम से बहने लगा। इस काव्य धारा का यह महत्व है कि इसने काव्य के विषय में एक नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत किया, वह चाहे जैसा भी रहा हो। 'अंचल', 'नीरज' 'बालकृष्ण शर्मा नवीन' केदारनाथ अग्रवाल आदि की कुछ रचनायें प्रगतिवादी काव्य के अन्तर्गत आती हैं।

प्रगतिवादी काव्य की बाढ़ के उतरते ही 'प्रयोगवादी' काव्य ने मस्तक उठाना आरम्भ कर दिया जिसके भी लक्षण लोगों को 'पन्त' जी की उसी प्रगतिवादी कविता से मिलने लगे थे। 'पन्त' जी को स्वपक्ष में करने की काफी खींच-तान लोगों ने की है।

प्रयोगवादी कवियों की धारणा है कि व्यावहारिक जीवन की सफल अभिव्यक्ति काव्य-वस्तु एवं शैली शिल्प के नवीन प्रयोगों द्वारा ही हो सकती है क्योंकि विज्ञान की प्रगति के कारण मानव के विश्वासों में इतने परिवर्तन उपस्थित हो गये हैं कि उसे अब पुराने उपमान भुलावा नहीं दे पाते। इन लोगों ने कविता के लिये नये विषय, नये छन्द, नये रूप, नये स्वर, नयीशैलियाँ नयी-ध्वनियाँ तथा अभिव्यक्ति के नये ढंग अपनाये। सुन्दर, मधुर एवं कोमल के स्थानपर प्रयोग वादी कवियों ने भदेस, अनगढ़ और परुष शब्दों को महत्व प्रदान किया। छायावाद की अतीन्द्रियता, अमूर्तसाधना, रहस्य भावना और कल्पना सृष्टि के विरुद्ध प्रतिक्रियास्वरूप प्रयोगवाद आया। यहाँ पहुँच कर काव्य के सभी रीतिकालीन उपमान पुराने पड़ गये। जिसके मूल में थे आधुनिक युग के नवीन आविष्कार। निश्चित ही इस पर भी प्रगतिवाद की भाँति मार्क्सवाद का प्रभाव पड़ा है। प्रयोग वादी कवि की दृष्टि में आज चन्द्र, वसंत, कमल, सरिता, उद्यान आदि को उतना ही महत्व बल्कि उससे कम ही मिल सकता है जितना कि तीन टाँगों पर खड़े नतग्रीव गदहे, भैंसा गाड़ी, हरीघास, नदी के द्वीप, चप्पल, चाय और सीला बीनने वाले को। प्रयोगवादी कवि संसार की प्रत्येकवस्तुपर लिखना चाहता है। बौद्धिक तत्व के कारण उनमें इतनी

बोझिलता आ गई है कि छायवाद की भाँति वे अपनी स्पष्ट अनुभूति भी नहीं कर पाये, यद्यपि उन लोगों ने भावों को सफल अभिव्यक्ति देने के लिये भाषा प्रयोग की स्वतन्त्रता ली और कामा, टेढ़ी लकीरों तथा बिन्दुओं आदि का भी प्रयोग किया।

सामाजिक उत्तरदायित्व की हीनता के कारण ही इन कवियों को असफलता मिली। एक दृष्टि से देखा जाय तो प्रगतिवादी कविताओं की अपेक्षा इनमें स्वच्छन्दता की भावना अधिक थी क्योंकि वे सर्वतन्त्र स्वतंत्र होना चाहते थे।

'अज्ञेय' जी ने इस काव्य धारा को प्रेरणा प्रदान की जिससे 'तारसप्तक' के माध्यम से अनेक कवि इधर आये। डा० रामविलास 'शर्मा' भी प्रयोगवाद के समर्थकों में से एक रहे। प्रयोगवादी कवियों में 'अज्ञेय' 'डा० रामविलास शर्मा' 'नागार्जुन' 'गजानन' 'भारतभूषण अग्रवाल,' 'गिरजाकुमार माथुर' 'भवानीप्रसाद मिश्र' मदन वात्स्यायन' नरेश कुमार मेहता, आदि प्रमुख हैं— उदाहरणार्थ कुछ पंक्तियाँ पर्याप्त होंगी—

आओ बैठो।
क्षण भर तुम्हें निहारूँ।
अपनी जानी एक-एक रेखा पहचानूँ
चेहरे की आँखों की—
अन्तर्मन की
और हमारी सासों की अनगिन स्मृतियों की
तुम्हें निहारूँ,

अज्ञेय—हरीघास पर क्षण भर)

सरग था ऊपर
नीचे पाताल था
अपच के मारे बुरा हाल था,
दिल-दिमाग भुस का, खद्दर का खाल था'

(नागार्जुन)

हाथी घोड़ा पालकी,
जय कन्हैया लाल की।
हिन्दी हिन्दुस्तान की
जै हिटलर भगवान की।

(डा० रामविलास शर्मा)

इस प्रकार इस खेवे के कवि प्रयोगों के चक्कर में इतने उलझे रहे कि भावानुभूतियों की ओर इनकी दृष्टि ही नहीं जा सकी। फलस्वरूप नयी कविता का आन्दोलन उठ खड़ा हुआ है जिसमें अपेक्षाकृत वातावरण चित्रण, भावुकता तथा स्वच्छन्दतावादी विचारों के दर्शन मिल जाते हैं। छन्दों के सम्बन्ध में ही इन कवियों की दृष्टि उदार है और ये गद्यात्मकता के निकट चले आये हैं अन्यथा स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति को अभिव्यक्ति देने में ये कवि सक्षम हैं। काव्य-रूप को सामने रखकर यदि हम देखें तो प्रयोगवादी और नयी कविता में कोई एक निश्चित भेदक रेखा नहीं खींची जा सकती पर जहाँ तक विषय का सम्बन्ध है निश्चित ही नयी कविता स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा के एक अंग का विकसित रूप है। स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा का अविछिन्न प्रवाह नयी कविता में वर्तमान है पर नयी कविता के लेखकों का आग्रह परम्परा पालन की दिशा में नहीं है। जिस प्रकार प्रगतिवाद और प्रयोगवाद का उदय प्रतिक्रियास्वरूप हुआ था, उसी प्रकार की प्रतिक्रिया ने नयी कविता को भी जन्म दिया है'। नये कवियों के मूल में जो धारणा कार्य कर रही है वह यह कि कविता के छन्द और उपमान इतने पुराने पड़ गये हैं कि आधुनिक विकसित समाज की अनुभूतियों को अभिव्यक्ति उनके माध्यम से नहीं दी जा सकती। इन कवियों में विषय की नवीनता के प्रति उतना आग्रह नहीं है जितना कि विषय की व्यापकता के प्रति और यही कारण है कि स्वच्छन्दतावादी काव्य धारा के न जाने कितने श्रेष्ठ कवि नयी कविता की ओर खिंचते चले आ रहे हैं और उनके माध्यम से प्रकृति का वही स्वच्छन्द वातावरण और कल्पना की उड़ान काव्य का रूप धारण करता जा रहा है। इससे तो स्पष्ट है कि कविता के सामने जो प्रश्नवाची चिन्ह लगा है उसे हटाने और कविता के अस्तित्व को कायम रखने के लिये ही यह भाग दौड़ हो रही है, सशक्त गद्य साहित्य के सम्मुख जिसके लिए खतरा पैदा हो गया है। नयी कविता की विधा और उसके भविष्य के सम्बन्ध में हमें यहाँ कुछ नहीं कहना है क्योंकि इस पुस्तक का वह विषय नहीं है। यहाँ तो केवल मुझे यही बतलाना था कि स्वच्छन्दतावादी काव्य धारा किस रूप में विकास पा रही है। चन्द उदाहरणों पर ही यहाँ सन्तोष कर लेना अधिक श्रेयस्कर होगा।

एक दिन सहसा
सूरज निकला
अरे क्षितिज पर नहीं
नगर के चौक।

धूप बरसी
पर अंतरिक्ष से नहीं
फटी मिट्टी से ।

× × ×

काल सूर्य के रथ के
पहिये ज्यों अरे टूटकर
बिखर गये हों
दसों दिशा में ।

(हिरोशिमा-अज्ञेय)

पतझड़ की दोपहरी
आग की लपटों-से पेड़
और मेरी आँखों में
जिन्हें पीना गुनाह लगता है ।

× × ×

कौन खरीदेगा मेरे रचयिता
मुझे प्रदर्शिनी में टांगनामत
मैं तुम्हारी गृहस्थी हूँ ।

(विपिनकुमार अग्रवाल)

मद्धिम चन्द्रमा
फटे बादल
भूरे, सफेद, काले
हल्के किशमिशी बाल माथे पर
फिर-फिर उड़ आते

× × ×

चमको तुम मद्धिम चाँद
अभी फिर बादल आयेंगे

(गिरजा कुमार माथुर)

क्या कहा ?
मर गयी प्रेरणा ?
अच्छा हुआ !
बड़ी शैतान थी !

अपनी ही मर्जी से
आती थी, जाती थी।
आरजू-मिन्नतों की,
मेरे अरमानों की
मेरी ख्वाहिशों की
थी उसको परवाह नहीं!
अच्छा हुआ,
नहीं रही!

(टूटा हुआ आदमी—सिद्धनाथ कुमार)

सुनो सुनो!
यहीं कहीं कच्ची सड़क थी
जो मेरे गाँव को जाती थी!
सावन के बादलों की बकरियों के पीछे
बिजली की ककुटिया हिलाती भगती नजर आती थी,

× × × ×

कटी हुई फसलों की सुनहरी गाँठ
शीश पर उछालती, हुमचती आती जाती थी—

(यहीं कहीं एक कच्ची सड़क थी—सर्वेश्वर दयाल सक्सेना)

सहायक ग्रन्थ-सूची

आधुनिक साहित्य	नन्ददुलारे वाजपेई	प्रथम संस्करण
आधुनिक हिन्दी काव्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ	डा० नगेन्द्र	प्रथम संस्करण
आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास	डा० श्रीकृष्ण लाल	द्वितीय संस्करण
आलोचना इतिहास और सिद्धान्त	यस० पी० खत्री	प्रथम संस्करण
आधुनिक कविता विवेचन तथा संचयन	सं० रणधीर सिनहा पद्मनारायण	
रोमान्टिक साहित्यशास्त्र	देवराज उपाध्याय	प्रथम संस्करण
रवीन्द्र साहित्य भाग २४	अनु० हंसकुमार तिवारी	प्रथम संस्करण
विचार और वितर्क	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी	प्रथम संस्करण
विचार दर्शन	डा० रामकुमार वर्मा	प्रथम संस्करण
हिन्दी साहित्य का इतिहास	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल	तृतीय संस्करण
हिन्दी साहित्य	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी	प्रथम संस्करण
हिन्दी का समसामयिक साहित्य	पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र	प्रथम संस्करण
हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद	डा० त्रिभुवन सिंह	तृतीय संस्करण
हिन्दी काव्यालंकार सूत्र की भूमिका	डा० नगेन्द्र	प्रथम संस्करण
हीरक जयंती ग्रन्थ	नागरीप्रचारिणी सभा	प्रथम संस्करण
हिन्दी कविता में युगान्तर	सुधीन्द्र एम० ए०	प्रथम संस्करण
हिन्दी साहित्य और विभिन्नवाद	रामजीलाल बधौलिया	प्रथम संस्करण
काव्य धारा	डा० केशरीनारायण शुक्ल	प्रथम संस्करण
काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध	जयशंकर प्रसाद	तृतीय संस्करण
खड़ी बोली का आन्दोलन	डा० शितिकण्ठ मिश्र	प्रथम संस्करण
छायावाद युग	डा० शम्भूनाथ सिंह	प्रथम संस्करण
छायावाद की काव्य साधना	प्रो० क्षेम	प्रथम संस्करण
छायावाद के गौरव चिह्न	,,	,,
नयीकविता	सं० डा० जगदीशगुप्त विजयदेव नारायण साही	प्रथम संस्करण

पत्र-पत्रिकाएँ

कल्पना अक्टूबर १९५२ हैदराबाद

सरस्वती जुलाई १९४२ इण्डियन प्रेस इलाहाबाद

साहित्य सन्देश आगरा

ENGLISH BOOKS

A History of English literature	Cazamian Revised Edition
Illusion and Reality	Christopher Coudwel.
The Progress of Romance	Clara Reeve.
An introduction to the Poetry of Romantic Revival	K. K. Sharma first edition.
On the Application of the epethet Romantic	Johufoster 1808 A. D.
The Making of Literature	Scott James